"SAANSKRITIK VIMARSH AUR SANSKRITI KE CHAAR ADHYAYAY"

(Dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfillment of degree)

MASTER OF PHILOSOPHY IN HINDI

2019

ANURAG BHARTI

(17HHHL21)

PROF. ALOK PANDEY

(SUPERVISOR)

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad –500046

Telangana

INDIA

“सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय”

हैदराबाद विश्वविद्यालय में एम.फिल.(हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

2019

अनुराग भारती
(17HHHL21)

प्रो. आलोक पाण्डेय
(शोध-निर्देशक)

हिंदी विभाग
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्विद्यालय
हैदराबाद - 500046
तेलंगाना (भारत)

DECLARATION

I, **ANURAG BHARTI**, hereby declare that this dissertation, entitled **"SAANSKRITIK VIMARSH AUR SANSKRITI KE CHAAR ADHYAYA"** (सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय') submitted by me under the guidance and supervision of **Pro. ALOK PANDEY** is a Bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodhganga /INFLIBNET.

Anurag

DATE 22/06/2019

PLACE : HYDERABAD

Anurag

Name: **ANURAG BHARTI**

Regd. No. 17HHHL21

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **'SAANSKRITIK VIMARSH AUR SANSKRITI KE CHAAR ADHYAYA'** (सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय) submitted by **ANURAG BHARTI** bearing Reg. No.17HHHL21 in partial fulfillment of the requirements for the award of Master of Philosophy in Hindi is a BONAFIDE work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free dissertation as far as I know.

As far as I know the dissertation has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Prof. ALOK PANDEY
Department of Hindi, School of Humanities
University of Hyderabad
P.O. Central university, Hyderabad-500 046

Signature of the Supervisor

Head of the Department

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
Head, Department of Hindi
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद, Hyderabad-500 046.

Dean of the School

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD,
HYDERABAD - 500 046, A.P. INDIA

अनुक्रमणिका

अध्याय पृष्ठ संख्या

भूमिका

प्रथम अध्याय: दिनकर :व्यक्तित्व एवं कृतित्व 1-15

द्वितीय अध्याय: संस्कृति के चार अध्याय:परिचय और महत्व 16-34

तृतीय अध्याय : सांस्कृतिक विमर्श : एक परिचय 35-52

चतुर्थ अध्याय : सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय 53-94

पंचम अध्याय : दिनकर की सांस्कृतिक चेतना 95-107

उपसंहार 108-123

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची 124-126

भूमिका

संस्कृति की यात्रा का ब्यौरा प्रबंधात्मक रूप में प्रस्तुत करना किसी लेखक के लिए साधारण बात नहीं होती। संस्कृति का प्रश्न उलझन भरा प्रश्न होता है, कहीं कहीं आपकी आस्था भी आपके लेखन पर हावी दिखाई पड़ती है। यह हम सब जानते हैं कि आस्था का तथ्यों से कोई लेना देना नहीं होता, आस्था जातीय मनोकांक्षा पर आधारित होती है। स्वाधीन भारत में संस्कृति के प्रश्नों पर काफी कम विचार किया गया है, एशियाई परिदृश्य में हम देखें तो उपनिवेशवाद से आज़ादी के उपरान्त कई देश संस्कृति के प्रश्नों को अपने चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान देते रहे हैं। भारतीय संदर्भ में उसका उल्लेख केवल गंगा-जमुनी तहजीब विशेषण तक सीमित रहा है। इस संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया के ऐतिहासिक सन्दर्भों को निरूपित करने का प्रयास काफी कम किया गया है। उसी कमी को पूरा करने का प्रयास है संस्कृति के चार अध्याय। दिनकर की इस कृति का प्रकाशन 1956 में हुआ था। दिनकर के रचनाकर्म की पृष्ठभूमि में वे ही विचार हैं जो स्वाधीन भारत की चिंता के केंद्र में रहे हैं, उनका सांस्कृतिक अध्ययन ऐतिहासिक प्रामाणिकता की रक्षा करते हुए उन तत्वों पर बल देता है जो देश की जनता को उद्बुद्ध, विवेकवान और क्रियाशील बनाती हैं। उनकी कामना भारतीय संस्कृति के उदार, सामासिक और मानवीय पक्ष को जनसाधारण तक संप्रेषित करने की है। समसामयिक परिदृश्य और औपनिवेशिक दवाब ने दिनकर के साहित्य में सांस्कृतिक उदारवाद और राष्ट्रीयता की भावना को आकार दिया, दिनकर की दृष्टि में भारतीय संस्कृति में सामासिकता, उदारता और सहिष्णुता ऐसे सूत्र हैं, जिनके माध्यम से भारत के अतीत और वर्तमान की आंतरिक बुनावट को पहचानते हुए राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ और विकसित किया जा सकता है। दिनकर के लिए राष्ट्र उत्प्रेरक का काम करता है।

बीसवीं सदी के छठवें दशक तक अधिकांश देशों से राजनैतिक व सैन्य उपनिवेशवाद का खात्मा हो रहा था, तीसरी दुनिया का भी उदय हो रहा था, यद्यपि भारत 1947 तक आज़ाद हो चुका था। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को संविधान की मूल प्रस्तावना में शामिल किया गया, धर्मनिरपेक्षता की परंपरा पर ध्यान देने के बजाय उसे सैद्धांतिक रूप देने का प्रयास किया गया, कई सिद्धांत इसलिए भी अमूर्त रह जाते हैं, क्योंकि उसकी समृद्ध परंपरा को ओझल रखा जाता है। एक सवाल जो इससे जुड़ा हुआ है वह यह कि

इससे पहले क्या भारतीय समाज साम्प्रदायिक था ? हम चीज़ों को बाइनरी में देखने के आदि होते हैं, गोरा है तो काला भी है। दिनकर ने भारतीय सभ्यता में धर्मनिरपेक्षता की उपस्थिति सभ्यता की शुरुआत से ही मानी है। हमें यह भी समझना होगा कि भारतीय एकता किसी एक राजनीतिक प्रणाली या सिद्धांत के बजाय सांस्कृतिक प्रतीकों और आध्यात्मिक मूल्यों के व्यापक प्रसार पर निर्भर रही है;तमाम राजनीतिक अस्थिरता और परिवर्तनशीलता के बीच यह प्रक्रिया सरकार और समाज के बीच के पार्थक्य को कभी ख़त्म नहीं कर पायी और भारतीय लोग अपनी अस्मिता को राजनीति के बजाय सांस्कृतिक रूप में ही पहचानते रहे हैं, फिर चाहे वे राम हों, या गंगा, आदि शब्द भारतीय अस्मिता के वाचक रहे हैं, विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में कुछ संदर्भ भी हमारी परंपरा के अंग बन जाते हैं, जो अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर भारतीयता की परंपरा के अभिन्न अंग बन जाते हैं, अम्बेडकर, महात्मा गांधी ऐसी ही शख्सियत हैं।

इस सदी की सबसे बड़ी समस्या सभ्यतागत समस्या है, धार्मिक आधार पर धर्म की गोलबंदी की जा रही है, ऐसा इस्लामिक कट्टरवाद के प्रति प्रतिक्रिया के साथ साथ सुरक्षात्मक रवैया अपनाने के लिए हो रहा है। साम्प्रदायिकता का स्वर भी इस युग में तीव्रतर हुआ है, दिनकर इन समस्याओं के मूल में जाते हैं और हलाहल की परंपरा को साम्प्रदायिकता की समस्या का जनक ठहराते हैं। दिनकर ने हिन्दू-मुस्लिम के आपसी संबंधों की पड़ताल तथ्यों के साथ-साथ उनकी मानसिकता के आधार पर भी की है। दिनकर अपनी इस कृति के माध्यम से संस्कृति सम्बन्धी चिंतन की अभावग्रस्तता की भी भरपाई करते हैं। संस्कृति का प्रवेश जीवन के हरेक क्षेत्र में है, संस्कृति हमारी अस्मिता के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारक है, हर अगली पीढ़ी अपनी पिछली पीढ़ी से बहुत कुछ ग्रहण करती है, उन्हीं में से एक है संस्कृति, इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम संस्कृति के सम्यक स्वरूप को हस्तांतरित करें, चूँकि संस्कृति सम्बन्धी प्रश्नों की चिंता जनसामान्य को ज्यादा होती है और यह पुस्तक भी दिनकर ने

जनसामान्य को ध्यान में रखते हुए लिखी है। इसलिए भी यह पुस्तक एक अपील करती है और अगर हम इस अपील की ओर मुड़ते हैं तो हमारी कई शंकाओं का समाधान हो सकता है।

नेहरु ने विविधता में एकता जैसे पदबंध से भारतीय संस्कृति को महिमामंडित किया है, वहीं दिनकर ने विविधता में एकता के आधार सूत्रों को अपनी इस कृति में बाहर लाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। कोई भी देश इतिहास निरपेक्ष नहीं होता, अपितु देश इतिहास की ही उपज होता है। इतिहास जब तक कोहरे की कैद में रहता है वह राजनीति को फायदा पहुंचाता है, देश के लिए यह स्थिति खतरनाक होती है, इसलिए इतिहास की विकास परंपरा का तटस्थ मूल्यांकन आवश्यक होता है, दिनकर की यह पुस्तक इस दृष्टि से सफल है। दिनकर सही मायनों में भारतीयता शब्द को जीने वाले रचनाकार हैं, इसलिए भी वे संस्कृति, सभ्यता जैसे शब्दों में निहित भावनात्मक अपील को महसूस करते हैं। संस्कृति मानसिक गठन का निर्धारण करती है, जो जड़ों से कटा हुआ है उसके बारे में नहीं कहा जा सकता, परन्तु जो जड़ों से जुड़ा हुआ है उसकी मानसिक संरचना के निर्धारण में सभ्यता के मिथक, वहां की कला, सगोत्रता तथा भाषा का योगदान होता है।

हिंदुत्व पर संशय के बादल उसकी गलत व्याख्या से उपजे हैं, हिंदुत्व को हमेशा कुलीनता से जोड़ा गया है, दिनकर हिंदुत्व को वेदान्त पर आधारित मानते हैं। हिंदुत्व को संकीर्णता से बाहर लाने का लक्ष्य दिनकर की इस कृति में मौजूद है। रेमंड विलियम्स संस्कृति को एक प्रक्रिया के रूप में समझने पर जोर देते हैं जो आम लोगों की दैनिक अन्तःक्रियाओं के संपूर्ण जीवन पद्धति के अंतर्गत मूल्यों और अर्थों के विस्तार में निहित होती है। सांस्कृतिक विश्लेषण में अनुभूति की संरचना पद पर विलियम्स ने जोर दिया है, इस अनुभूति की संरचना को ध्यान में रखते हुए हम दिनकर की इस संस्कृति की यात्रा का मूल्यांकन कर सकते हैं। अनुभूति की संरचना व्यापक सामाजिक परिवर्तन से प्रभावित होती है, यह कभी कभी उत्प्रेरक का भी काम करती है, जैसे वर्तमान समय में राष्ट्रवाद पर जो पुनर्बहस छिड़ी है, साथ ही यह बहस युवाओं को अपनी तरफ आकर्षित भी कर रही है, वह अनुभूति की संरचना में आये बदलाव का विषय है, जिसे तीव्र करने में मीडिया, सिनेमा का अभूतपूर्व योगदान है।

दिनकर ने अपने समय में पाया कि हिन्दू अधिक हिन्दू और मुस्लिम अधिक मुस्लिम होते चले जा रहे हैं, यही वजह है कि दिनकर संस्कृति की इस यात्रा पर निकल पड़ते हैं जिसका सुफल यह पुस्तक है। दिनकर ने समूचे भारतीय इतिहास में समावेशीकरण और एकीकरण की लगातार चलने वाली प्रक्रिया पर बल दिया है, दिनकर जिस समय यह पुस्तक लिख रहे थे, वह दौर उपनिवेशवाद के विरोध का युग है, नये सिरे से राष्ट्र के निर्माण का युग है। निर्माण के कार्य आधारभूत संरचना पर ही संभव होते हैं, वह आधारभूत संरचना थी सांस्कृतिक विरासत का पुनरावलोकन, दिनकर पुनरावलोकन के रास्ते में औपनिवेशिक मान्यताओं से टकराते हैं, इतिहास की साम्प्रदायिक धारा को, तथ्यों से जनता के पक्ष में मोड़ते हैं। दिनकर से पहले गाँधी जी भी ने इन्हीं सांस्कृतिक मूल्यों को टटोलते हुए उसे सुसंगतता प्रदान करने की कोशिश की थी, गांधी जी ने यह प्रयास स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान किया था तो दिनकर ने स्वतंत्रता के उपरान्त। दिनकर इतिहास चेतना के साथ चलने वाले रचनाकार हैं, उनकी चेतना इतिहास की ठोस धरातल पर निर्मित हुई है।

आज जब सूचना तकनीक तथा जैव तकनीक के गठजोड़ ने मानवीय अस्मिता के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करना शुरू किया है तो क्या यह संभव है कि संस्कृति के प्रश्न आगामी मनुष्य की पीढ़ी से गायब हो जाएंगे, आशंकाएं और भी जताई जा रही हैं कि नैतिकता, सत्यनिष्ठा ये सब खोखले साबित होंगे।आज संस्कृति को निर्मित करने का प्रयास किया जा रहा है, उसे खोजा नहीं जा रहा है, यह सब भाषा और निरूपण के माध्यम से हो रहा है। संस्कृति का पारंपारिक रूप ढहता जा रहा है, हमे उसे विस्मृति से बचाना होगा। विचारधारा अब उतना मायने नहीं रखती जितनी सांस्कृतिक अस्मिता, यहाँ तक कि राजनीति भी अपनी अभिव्यक्तियाँ जाति से ही पा रही हैं। अतीत के दस्तावेज वर्तमान के प्रतिमान होते हैं, दिनकर मानते हैं कि भारत में जो चार बड़ी क्रांतियाँ;आर्य के आगमन, बौद्ध-जैन धर्म का विद्रोह, इस्लाम का आगमन तथा यूरोपियन का आगमन हुआ है, इन घटनाओं ने भारतीय जनमानस की मानसिक संरचना तथा सोचने विचारने की शैली को प्रभावित किया है। व्यवस्थित तरीके से अतीत से मुंह तभी मोड़ा जाता है जब यह स्पष्ट हो कि यह नवप्रवर्तन या बदलाव सामाजिक रूप से वांछनीय है, लेकिन उपनिवेशवाद ने सभ्यता के प्रसार के नाम पर हम भारतीय को भारतीय कम, हिन्दू एवं मुस्लिम अधिक बनाने का काम किया था। ये बदलाव समाज पर बाहर से थोपे गये थे जिसे और स्थायी बनाने का काम मुस्लिम लीग तथा अन्य कट्टरवादी राजनीतिक संगठनों ने किया था।

परंपरा और संस्कृति कट्टरवादी विचारधारा के लिए आधार का काम करती है जो तथ्यों के गलत निरूपण पर आधारित होती है। अतीत का ऐसा निरूपण अशिक्षित जनता को दिग्भ्रमित करने का काम करती है, इसलिए भी दिनकर अतीत के प्रति ज्यादा सचेत दिखाई पड़ते हैं, उन्होंने अतीत से अपने आपको असंपृक्त नहीं किया है, ना ही वे भविष्य के प्रति अनिश्चितता का भाव अपनाते हैं। दिनकर सांस्कृतिक गतिशीलता को पकड़ने की कोशिश लगातार करते रहे हैं और इसमें वे सफल भी हुए हैं, परंपरा से ही हम अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया को पाते हैं, फिर ऐसे कौन से कारक हैं जिनकी वजह से वे शब्द अर्थ संकुचन का शिकार हो जाते हैं, दरअसल राजनीति व सत्ता अर्थों के संकुचन की प्रक्रिया को बढ़ावा देती है, राजनीति अपने लक्ष्य के निमित्त अनेक शब्द व अर्थ गढ़ती है, शब्दों की गतिशीलता ऐसे ही मरती है।

यह बात बिलकुल सही है कि भारतीयता की अस्मिता औपनिवेशिक स्थितियों के दवाब में गढ़ी गई, यह धारणा किसी भी उपनिवेश का हिस्सा रहे देश के लिए उतनी ही सही है जितनी भारत के लिए। इस अस्मिता के निर्धारण में बहुत सारे सांस्कृतिक पहलू कटते गए परिणामस्वरुप यह भारतीयता बहुत वर्षों तक एकांगिकता की शिकार रही, गांधी जी ने इस कमी को दूर करने का प्रयास किया था, परन्तु तत्कालीन राजनीति ने ऐसा होने नहीं दिया, इस व्यथा को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है, वे लिखते हैं –'उस काल के विचार स्रोत,भाव स्रोत और प्राण स्रोत की आदि गंगा सूख गई है। बस उस नदी की तलहटी में जहाँ तहाँ पानी रुक गया है, वह किसी बहती हुई आदिम धारा से परिपुष्ट नहीं। उसका कितना पानी पुराना और कितना पानी आधुनिक लोकाचार की दृष्टि से संचित है, कहना कठिन है। (अग्रवाल, 2008)[1] टैगोर की यह टिप्पणी चिंतन के सूखे स्रोत की ओर इशारा करती है, जहाँ लेखन तो प्रचुरता में हो रही है परन्तु जिसमें भारतीयता की भावधारा बिलकुल नहीं है।

दिनकर जिस युग में लिख रहे थे वह युग अस्मिता के निर्माण का भी युग था। इस अस्मिता के निर्धारण के लिए साहित्यिक विरासत के साथ साथ सांस्कृतिक विरासत को भी बाहर लाने की आवश्यकता थी। ऐसा इसलिए भी आवश्यक था क्योंकि राष्ट्रीय साहित्य के बिना राष्ट्रीय अस्मिता का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। अंग्रेजों ने सबसे पहले हमारे साहित्यिक स्थिति पर ही चोट की थी। भला हो शलेगल और गेटे का जिन्होंने भारतीय साहित्यिक परंपरा को वैश्विक पटल पर लाने का काम किया। दिनकर ने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से उन राहों को खोज निकालने का प्रयास किया है जिसकी बदौलत प्रभुत्वशाली व सख्त पारंपरिक व्यवस्था को चेतना तथा अभ्यास के स्तर पर परिवर्तित किया जा सके।

---

[1] पुरुषोतम अग्रवाल, संस्कृति :वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, सस्करण -2008, पृष्ठ संख्या-41

परंपरा और संस्कृति का राजनीतिकरण आज की विश्व व्यवस्था में अस्थिरता का कारण है और उसके भीषण परिणाम के रूप में संरक्षणवाद का उभार वैश्विक संस्कृति में हो रहा है। एक और परिघटना जो वैश्विक स्तर पर आकार ग्रहण कर रही है वह है विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का एकजुट होना, वैश्विक राजनीति एक साथ बहुध्रुवीय भी है तथा बहुसभ्यातामूलक भी। हेनरी किसिंगर ने लिखा है कि 21वीं शताब्दी की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में छह महत्वपूर्ण देश शामिल होंगे जो अपनी सभ्यता के बदौलत विश्व में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इन देशों में शामिल हैं- संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, जापान, यूरोप, चीन, रूस। उन्होंने यह भी अनुमान व्यक्त किया है कि स्थानीय राजनीति जाति की राजनीति से प्रभावित होगी और वैश्विक कूटनीति सभ्यताओं की राजनीति होगी, सुपर पॉवर की अवधारणा को सभ्यता के टकराव से पराजित होना पड़ेगा।

दिनकर की इस कृति का महत्व इन संभावनाओं के बाद और भी बढ़ जाता है। आज कई देशों ने आर्थिक प्रगति हासिल करने के बाद सभ्यता और संस्कृति के प्रश्नों पर पुनर्विचार करना आरम्भ किया है। वे देश इस नई व्यवस्था से बाहर किये जा रहे हैं जिनका इतिहास खून खराबे भरा रहा है खासकर इस्लामिक देश इस नई व्यवस्था से बहिष्कृत किये जा रहे हैं। संस्कृति एक अमूर्त अवधारणा है, जीवन के हरेक क्षेत्रों में हुए बदलाव को संस्कृति में लक्षित किया जा सकता है। दिनकर संस्कृति पर कोई फैसला नहीं करते हैं, अपितु एक प्रयास करते हैं ताकि संस्कृति में निहित मूल्यों को एक दिशा प्रदान की जा सके। स्वतंत्रता प्राप्त करने तक संस्कृति का जो स्वरुप था वह औपनिवेशिक चिंतन से प्रभावित था और उसके उपरान्त संस्कृति पर जो पुनर्विचार आरम्भ हुआ वह हासिल की हुई स्थिति है उसमे भारतीय चिंतन प्रणाली को उसकी गरिमा के साथ अभिव्यक्ति मिली है।

दिनकर की यह कृति अस्मिता की खोज की कोशिश है, उस भारतीयता की खोज जिसकी शुरुआत नवजागरण से होती है और गांधी तक आते आते परिपक्वता ग्रहण करती है, दिनकर ने बदलते भारत की इस सांस्कृतिक यात्रा को बड़ी ही रोचकता से निरुपित किया है। इस बदलाव के क्रम में भी भारत ने अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ा है, उसी मूल स्वरूप का आख्यान प्रस्तुत करती है यह पुस्तक। अतीत का मूल्यांकन कई बार वर्तमान से तालमेल बैठाने के लिए अपरिहार्य होता है, हमारा वर्तमान हमारे भविष्य की आधारशिला होती है, उस आधारशिला का आधार अतीत होता है। दिनकर ने उस अतीत का को समझने का प्रयास किया है, दिनकर की यह कृति निस्संदेह हिंदी जाति की थाती है। हरेक देश की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि होती है, उस दृष्टि को गढ़ने में साहित्यिक रचनाकारों का जितना योगदान होता है

उतना योगदान किसी अन्य विषयों के लेखकों का नहीं होता है। पुनर्जागरण की लहर में बुद्धिवाद पर खूब जोर दिया गया उस लहर में भावना की भूमिका को नज़रअंदाज किया गया, 1990 के दशक में डेनियल बेल जैसे लेखक ने संस्कृति तथा व्यक्ति के विकास में भावना की भूमिका को निर्णायक साबित किया। दिनकर ने संस्कृति की इस यात्रा में भावना को उचित महत्व दिया है।

अक्सर जमाने की अराजकता को नियंत्रित करने के लिए संस्कृति का सहारा लिया जाता है, जैसे मैथ्यू अर्नाल्ड ने संस्कृति और अराजकता नामक अपनी पुस्तक में किया है। दिनकर ने 1950 के दौर की अराजकता, कोलाहल, वैमनस्य को कम करने के लिए संस्कृति का सहारा लिया है। दिनकर के यहाँ संस्कृति तमाम तरह के भेदभाव, वर्ग-विसर्जन और सामंजस्य के अमोघ अस्त्र के रूप में उपस्थित है। संस्कृति के इस प्रगतिशील रूप का निरूपण दिनकर जैसे लेखक ही कर सकते थे।

आभार :

मैं सर्वप्रथम हिंदी विभाग (हैदराबाद विश्वविद्यालय) के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जहाँ मुझे शोध कार्य के प्रथम चरण को योग्य निर्देशन में पूरा करने का मौका प्रदान किया गया;तदोपरांत मैं अपने शोध निर्देशक प्रो.आलोक पाण्डेय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनके कुशल मार्गदर्शन और सदाशयता के बिना यह कार्य लगभग असंभव होता। उन्होंने मुझे मेरी रूचि के अनुसार विषय दिया, उनकी गहन अध्ययन मर्मज्ञता का प्रसाद सहज ही मिलता रहा। प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रत्येक चरण पर उनका मार्गदर्शन मुझे प्राप्त होता रहा। आज इस दौर में जहाँ समय की कमी एक अपरिहार्य सच्चाई है, वहां सर का हर वक़्त अपने शोधार्थियों के लिए तत्क्षण समय निकालना बहुत बड़ी बात है, शायद यह उन तमाम वजहों से ज्यादा महत्वपूर्ण है।

मैं हिंदी विभाग के सभी गणमान्य शिक्षाविदों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। इसके अतिरिक्त इस लघु शोध कार्य को पूरा करने में विभाग के कुछ सीनियर शोधार्थियों का भी समय समय पर साथ मिलता रहा है खासकर हिमांशु भैया का उनके प्रति विशेष आभार। इसके अतिरिक्त कर्त्तव्य पथ पर साथ देने वाले उन सभी सुधीजनों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अध्याय -1

दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

'रामधारी सिंह दिनकर' हिन्दी के उन गिने-चुने कवियों में से हैं जिनकी पंक्तियाँ आम लोगों के बीच कहावतों और लोक-श्रृतियों की तरह प्रचलित हुई। वे एक ऐसे कवि हैं जो एक साथ पढ़े-लिखे, अनपढ़ और कम पढ़े-लिखे लोगों के बीच भी काफी लोकप्रिय हुए। उनका जन्म 23 सितंबर 1908 को बिहार राज्य के बेगूसराय जिले में हुआ था। उन्होंने इतिहास, दर्शनशास्त्र और राजनीति विज्ञान की पढ़ाई पटना विश्वविद्यालय से की। साहित्य के रूप में इन्होंने संस्कृत, बंग्ला, अंग्रेजी और उर्दू साहित्य का गहन अध्ययन किया था।

साहित्यकार का व्यक्तित्व तथा कृतित्व जहाँ अपनी समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है, वहीं वह उसका दिशा-निर्देश भी करता है। रामधारी सिंह दिनकर 1924 से लेकर मृत्यु-पर्यंत हिन्दी काव्य जगत में एक विशिष्ट प्रगतिशील कवि के रूप में क्रियाशील रहे। उनका काव्य अपने युग की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब था, किंतु साहित्यिक क्षेत्र में वे किसी वाद-विवाद से सम्बद्ध नहीं रहे। उनके युग का परिचय प्राप्त करने के लिए उसे निम्नलिखित उप- शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता हैः-

1. राजनीतिक स्थिति
2. सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति
3. साहित्यिक स्थिति

1. राजनीतिक स्थिति

जिस समय रामधारी सिंह दिनकर ने काव्य जगत में प्रवेश किया, उस समय राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दोनो ही क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से अशांत थे। प्रथम विश्व युध्द समाप्त हो चुका था, किन्तु युध्द की आशंका ज्यों की त्यों विद्यमान थी;इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर भयंकर विनाश के साधन जुटा रहे थे। दूसरी ओर भारत में स्वाधीनता प्राप्ति के निमित्त अंग्रेजों के विरूध्द तीव्र गति से असंतोष बढ़ रहा था। प्रथम विश्वयुध्द के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने भारत में दमन का जो चक्र चलाया, उससे समस्त जनता आतंकित होकर पुनः संघर्ष के लिए तैयार हो रही था, राजनीतिक नेतृत्व दो लोगों के हाथ में था। कांग्रेस का दक्षिणपंथी दल जिसका नेतृत्व महात्मा गाँधी कर रहे थे, इनकी नीति अहिंसा के आधार पर स्वाधीनता प्राप्त करने की थी। दूसरी ओर सुभाषचंद्र बोस आदि युवकों का गरम दल था जो सशस्त्र क्रांति के बल पर स्वाधीनता हासिल करने के पैरोकार थे। ट्रेड यूनियन आंदोलन प्रबल होता जा रहा था, देश में मजदूर संघ की स्थापना हो रही थी। उसी समय गुजरात में बारदोली का सत्याग्रह हुआ, जिसने समस्त देश के किसानों में नवीन चेतना का संचार किया। देश में साइमन कमीशन के खिलाफ लोग एकजुट हो रहे थे, इसी आंदोलन के दौरान ब्रिटिश सिपाहियों से झड़प के दौरान लाला लाजपत राय पर लाठियों से प्रहार किया गया, जिससे उनकी मौत हो गई। भगतसिंह और उनके साथियों ने इस घटना का प्रतिशोध लेते हुए उन्होंने लाला लाजपत राय के हत्यारे सैंडर्स की गोली मारकर हत्या कर दी और असेम्बली पर भी बम फेंका। दिनकर की सहानुभूति प्रारंभ से ही गरम दल के साथ थी। उन्होंने अपनी तत्कालीन काव्य-कृतियों – रेणुका, हुंकार, तथा सामधेनी में हिंसात्मक क्रांति का प्रबल समर्थन किया है।

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ तथा 26 जनवरी 1950 को भारत में गणराज्य की स्थापना हुई। दिनकर ने इन दोनों ही अवसरों पर 'अरूणोदय' और 'जनतंत्र का जन्म' नामक कविताएँ लिखकर अपने असीम हर्षोल्लास को अभिव्यक्त किया। ये कविताएँ धूप और धुआँ नामक काव्य में संकलित है। गाँधी जी का रामराज्य का स्वप्न, स्वप्न मात्र ही बन कर रह गया। नेतागण स्वार्थमयी मनोवृत्ति का परिचय देने लगे। कुछ ही समय पश्चात देश को चीन का आक्रमण सहन करना पड़ा। दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर जहाँ देश को युध्द के लिए नैतिक साहस प्रदान किया वहीं दूसरी ओर गाँधी की अहिंसा तथा आध्यात्मिकता का भी बड़ा विरोध किया। इस आक्रमण ने कवि के इस विश्वास को और भी अधिक पुष्ट कर दिया कि सैन्य शक्ति के द्वारा ही भारत की स्वतंत्रता सुरक्षित बच सकती है। इस परिघटना के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि 'मानवतावाद' भारत का साध्य लक्ष्य होगा और सैन्य शक्ति उसका साधन। इस प्रकार दिनकर का युग राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रयास तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उसकी रक्षा का था। दिनकर का अधिकांश काव्य राष्ट्र की इन दोनों समस्याओं से संबंधित था।

2. **सामाजिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति:-**

दिनकर के साहित्यिक जीवन का प्रारंभिक काल जहाँ राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष का युग था वहीं सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र भी इसकी प्रतिक्रिया से अछूता नहीं था। गाँधी जी, सुभाषचंद्र बोस, तिलक केवल स्वाधीनता प्राप्ति के लिए ही जनता को सचेत नहीं कर रहे थे अपितु सामाजिक कुरीतियों आर्थिक शोषण और नैतिक पतन के विरूध्द भी जनता के हृदय में क्रांति की भावना भर रहे थे। वर्ग और जातिभेद की विषमता देश की एकता के मार्ग में अवरोध पैदा कर रही थी। ऐसी स्थिति में सांस्कृतिक उत्थान के लिए विभिन्न संस्थाएँ बड़े

मनोयोग से कार्य कर रही थी। इन प्रयासों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, विवेकानंद तथा गाँधी के प्रयास काफी महत्वपूर्ण तथा सराहनीय थे। तत्कालीन सांस्कृतिक विघटन का चित्र दिनकर ने अपनी कई रचनाओं में अभिव्यक्त किया है जैसे 'सामधेनी' कविता में-

बुझा धर्म का दीप भुवन में

छाया तिमिर अहंकारी

हमीं नहीं खोजते खोजती

उसे आज दुनिया सारी[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रान्त और भाषायी भेद के आधार पर विषमता बढ़ती गयी। भाई-भतीजावाद की नीति ने भ्रष्टाचार को प्रश्रय दिया। आर्थिक भेद पहले से भी और अधिक विषम हो गया। नैतिक मूल्यों का विघटन होने लगा। चीन तथा पाकिस्तान के युध्द के कारण भी देश का सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विकास अवरुद्ध हो गया। 'नीम के पत्ते', 'नील कुसुम' तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने स्वातंत्रयोत्तर सांस्कृतिक विघटन को बड़ी निर्भीकता से उभारा है। दिनकर का 'रश्मिरथी' काव्य जाति-भेद के स्थान पर मानवता की स्थापना का एक सराहनीय प्रयास है।

3. साहित्यिक स्थितिः-

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि दिनकर के साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल में स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए तो संघर्ष चल ही रहा था, औपनिवेशिक शासन के सांस्कृतिक प्रभावों से भी मुक्त रहने का संघर्ष दूसरे मोर्चे पर चल रहा था। राजनैतिक आंदोलन का नेतृत्व तो गाँधी, तिलक, नेहरू कर ही रहे थे वहीं सांस्कृतिक

[1] https://poetrylearner.com/poetry/9292/अतीत-के-द्वार-पर

परंपराओं को संशोधित एवं परिष्कृत करने का प्रयास भी चल रहा था। संस्कृति को प्रगतिशील रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास ताकि वे पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में टिक सके। उस समय मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवि इतिहास का आश्रय लेते हुए युगानुरूप बौद्धिक संगति के आधार पर जहाँ एक ओर भारतीय अतीत का गौरव-गान कर रहे थे वहीं दूसरी ओर विभिन्न सांस्कृतिक आदर्श उपस्थित करते हुए जनता को भारतीयता की ओर उन्मुख कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर छायावादी आंदोलन जो स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति के साथ-साथ कई समवर्ती विचारों का पुंज था, साहित्य के भीतर अपनी जगह बना चुका था। कल्पना की अतिशयता के साथ-साथ लाक्षणिकता पूर्ण अभिव्यक्ति इसकी विशेषता थी। लेकिन दिनकर की प्रतिबध्दता जन-जीवन और देश की समस्याओं के प्रति प्रत्यक्ष तौर पर बनी रही। रामवृक्ष बेनीपुरी ने उन्हें क्रांति का कवि कहा है। रामवृक्ष बेनीपुरी दिनकर के मित्र भी थे। उन्होंने लिखा है कि "राष्ट्रीय कविता की जो परंपरा भारतेन्दु से प्रारंभ हुई उसकी परिणति हुई है दिनकर में।"[2]

विश्व साहित्य में क्रांति पर जितनी कविताएँ हैं जैसे पी.बी.शैली की –Masque of anarchy (मास्क ऑफ़ अनार्की),वाल्ट व्हिटमन की- To a foiled european revolution आदि; दिनकर की 'विपथगा' उनमें से किसी के भी समकक्ष आदर पाने की योग्यता रखती है। कहा जाता है कि जब वे बोलते थे तो लगता था कि अपनी भाषा अपनी संस्कृति और अपने इतिहास पर सच्चे अर्थों में अभिमान रखने वाली एक परंपरा हुंकार रही है।

दिनकर व्यावहारिक व्यक्ति थे इतना व्यावहारिक व्यक्तित्व आपको साहित्य के क्षेत्र में शायद ही कोई मिलेगा। दिनकर की स्वीकारोक्ति है कि "वास्तविक प्रतिष्ठा वह है

[2] दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. सं. 139, प्रवीण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1977.

जो कवि या लेखक स्वयं अपने आपको देता है। 'कुरूक्षेत्र' और 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखने के बाद मुझे इसका अनुभव हुआ।"[3]

हिन्दी प्रदेश में कविता के माध्यम से जन-जागरण और क्रांति उत्पन्न करने वाले कवियों में दिनकर का स्थान सर्वोपरि है। जब कभी हिन्दी की राष्ट्रीय कविता का इतिहास लिखा जाएगा तब दिनकर की कविताओं से उसका स्वरुप समृद्ध होगा। दिनकर ने लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी साहित्य के भंडार को विविध विधाओं द्वारा समृद्ध करने का प्रयत्न किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इतिहास, संस्कृति, कविता और दर्शन उनके प्रिय विषय थे। दिनकर युवाओं की आकांक्षा को स्वर देने वाले कवि थे। दिनकर पर अध्ययन इस दृष्टिकोण से भी किया जाना चाहिए।

दिनकर केवल कवि ही नहीं बल्कि उच्च कोटि के मनीषी विचारक भी थे। कुरुक्षेत्र में युध्द-दर्शन को उन्होंने विचार के स्तर पर प्रस्तुत कर अपनी विद्वता का अच्छा परिचय दिया है। कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद को आधार बनाकर काव्य-भाषा में जो रुपांतरण किया है वह फिनलैंड के महाकाव्य 'कालेवाला' के समान है। वैसे तो साहित्यकार पर बोलने का अधिकार किसी साहित्यकार को ही है। लेकिन दिनकर के बारे में उनके समकालीन दलित राजनीति के शीर्षस्थ बाबू जगजीवन राम क्या सोचते थे इस बारे में उनके विचारों को भी पढ़ा जाना चाहिए वि लिखते हैं "दिनकर वह व्यक्ति था जिसकी प्रतिभा सर्वांगीण थी। जो कवि ही नहीं था, गायक ही नहीं था, वह श्रष्टा भी था। एक युगधर्म का श्रष्टा था, एक भविष्य का द्रष्टा था। राजनीति के क्षेत्र में भी दिनकर अपना सानी नहीं रखता था। वह एक जादूगर था जो अपनी पिटारी से किस वक्त क्या निकाल लेगा, यह दर्शकों के लिए अंदाजा लगा लेना मुश्किल रहता था।"[4]

---

[3] दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. सं. 147, प्रवीण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1977

[4] दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पेज 13, प्रवीण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1971.

दिनकर के बारे में भारतीय साहित्यकारों की राय जितनी अच्छी है अमूमन वह हर एक साहित्यकार के लिए नहीं होती है। दिनकर पौरुष के कवि ही नहीं बल्कि स्वयं भी पौरुषवान थे। स्वयं दिनकर जी ने हिमालय को 'पौरुष का पुंजीभूत ज्वाल' कहा है यह उक्ति उनके व्यक्तित्व के लिए भी उतनी ही उपयुक्त है।

दिनकर का रचना कर्म काफी विस्तृत है। मिट्टी की ओर (1946), अर्धनारीश्वर (1953), रेती के फूल (1950) वेणुवन (1958), धर्म नैतिकता और विज्ञान (1959), आधुनिक बोध (1973), आपके प्रसिध्द निबंध संग्रह हैं। इसके अलावा काव्य की भूमिका (1957), पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण (1958), शुध्द कविता की खोज (1966), आपकी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। संस्कृति के चार अध्याय (1956), आपका भारतीय संस्कृति के मूल उपादानों का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करने वाला प्रसिध्द प्रबंध है। हमारी सांस्कृतिक एकता (1954) में हिन्दुओं की जीवन पध्दति में अन्तर्निहित सांस्कृतिक एकता के तत्वों पर विचार किया गया है। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता (1956) में राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याओं पर सुलझे हुए विचार और राष्ट्र की एकता को दृढ़ करने वाले कुछ लेख और दीक्षांत भाषण संग्रहीत हैं।

दिनकर के व्यक्तित्व के दो रूप हमें देखने को मिलते हैं। व्यवस्थित चिंतन और प्रतिपादन में दिनकर गाँधी, नेहरू, विवेकानंद तथा टैगोर से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, वहीं कवि के रूप में वे एक राष्ट्र प्रेमी नजर आते हैं। जहाँ देश के प्रति उनकी भावुकता का उद्गार हर जगह मौजूद है। दिनकर ने अपनी रचनाओं के माध्यम से संस्कृति की सुदीर्घ परंपरा और अपने समय की महत्वपूर्ण घटनाओं के समीकरण को वैयक्तिक और सामाजिक दोनों धरातलों पर साधने का सार्थक प्रयास किया है। यह आकस्मिक नहीं है कि दिनकर ने जिस इतिहास चेतना से जुड़ने का प्रयास अपनी स्फुट कविताओं और प्रबंध काव्यों के द्वारा किया वहीं उसके इतिहास के विश्लेषण में अनेक निबंध लिखे और

'संस्कृति के चार अध्याय' नामक वृहद् ग्रंथ का निर्माण किया। दिनकर ने गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में यही करने का प्रयास किया था। डॉ. छोटे लाल दीक्षित ने बिल्कुल सही लिखा है कि "राष्ट्रीयता, कला की उपयोगिता, हृदयवाद और बुध्दिवाद भारतीय संस्कृति की विशेषता विश्व संस्कृति के संदर्भ में भारतीय संस्कृति, आधुनिकता और भारतीय संस्कृति आदि विषयों का वैचारिक मंथन दिनकर के साहित्य में जितना हुआ है उतना आधुनिक युग के किसी अन्य साहित्यकार के साहित्य में नहीं मिलता।"[5]

दिनकर मुख्य रूप से राष्ट्रीय अस्मिता के कवि हैं। आधुनिक साहित्य में राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात भारतेंदु काल से माना जाता है। 'भारत दुर्दशा' नाटक का मूल आधार देशभक्ति ही है। भारतेंदु युग की राष्ट्र-भक्ति, राज्य भक्ति की भावना से युक्त था। भारतेंदु के सहयोगी प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन आदि ने भी कई मौकों पर देश-भक्ति परक कविताएँ लिखीं। इनकी देश-भक्ति आत्मा के पहचान की थी। इनकी कविताओं के मुख्य विषय देश की दुर्दशा पर आँसू बहाना और सुधार के लिए प्रेरणा देना था। दिनकर के पदार्पण के उपरांत आत्म-ग्लानि का भाव जाता रहा और शक्ति का संचार होता रहा। दिनकर के काव्य की केंद्रीय थीम राष्ट्र-प्रेम है। वहीं दिनकर के गद्यात्मक व चिंतनपरक वैचारिक लेखन के केंद्र में भारत की समृध्दशाली विरासत व परंपरा है। दिनकर ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ से ही देश की प्रत्येक धड़कन को पहचाना है। दिनकर अपने व्यक्तित्व के छोर की भी बात करते हैं वे लिखते हैं- "जिस तरह जवानी भर इकबाल और रवींद्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन भर गाँधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ। इसीलिए उजले को लाल से गुणा करन पर जो रंग

[5] दिनकर का रचना संसार, छोटे लाल दीक्षित, पृ. सं. 19, अभिलाषा प्रकाशन, द्वितीय सं. 1978.

बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है। मेरा विश्वास है कि अन्ततोगत्वा यही रंग भारतवर्ष के व्यक्तित्व का भी होगा।"[6]

राष्ट्रवाद और साहित्य के मानदंडों की जब-जब पड़ताल होगी उसमें दिनकर ही रहेंगे। राष्ट्रीयता उनकी आत्मा का स्वर है यह दिनकर जी ने चक्रवाल की भूमिका में स्वीकार किया है। "सराह एम. कोर्से की पुस्तक (नेशनलिज्म तथा लिटरेचर) पढ़ने के क्रम में मेरी बुध्दि ने इस सूत्र को पकड़ने का प्रयास किया कि राष्ट्रीय साहित्य के अस्तित्व में रहने की मूल वजह राष्ट्रों के बीच का पारस्परिक अंतर है तथा उसी विषमता का स्वाभाविक रूप में साहित्य के भीतर चित्रण करने के उपरांत राष्ट्र, किसी कृति को राष्ट्रीय साहित्य के अस्तित्व का पर्याय मान सकता है। दिनकर ने यह प्रयास अपनी विभिन्न रचनाओं के माध्यम से किया है। बात चाहे कुरुक्षेत्र की हो या संस्कृति के चार अध्याय की, इन्होंने भारतीयता का सूत्र पकड़ते हुए अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया है। राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्र के तर्ज पर ही कुछ विशेष व्यक्तियों के सांस्कृतिक कर्मों की वजह से रचा जाता है। जैसे-जैसे राष्ट्र और साहित्य के संबंधों में सन्निकटता बढ़ती गई, साहित्य की भी दो कोटियाँ निर्मित होती गई, एक लोकप्रिय संस्कृति के हिस्से के रूप में दूसरा एंडरसन के शब्दों में (high culture literature) उच्च संस्कृति का साहित्य इसी दूसरे कोटि के साहित्य की अवधारणा में राष्ट्रीयता के उभार का रहस्य छुपा हुआ है।

राष्ट्रीय साहित्य, राष्ट्रीय चरित्र की भी जननी है। जैसे हमारे यहाँ राम, साहित्य की उपज हैं। अमेरिका के संदर्भ में जैसे – American cowboy; सामाजिक अवधारणा को बदलने में संस्कृति की भूमिका सबसे प्रगतिशील होती है। यहाँ तक कि राज्य निर्माण

[6] दिनकर व्यक्तितत्व एवं कृतित्व, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ,पृ. सं. 102, प्रवीण प्रकाशन, प्रथम सं. 1977.

में तथा सीमा के निर्धारण में भी संस्कृति का सहारा लिया जाता है। भारतीय राजनीति में संस्कृति का इस्तेमाल स्थूल अर्थों में किया गया है।

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के दौरान संभ्रांत वर्ग ने साहित्य के ऊपर ध्यान केंद्रित नहीं किया, अगर वे ऐसा करते तो संभव था कि राष्ट्रीय साहित्य की अवधारणा और खुल कर सामने आती ;समुदायों के बीच के वैमनस्य को खत्म करने में मदद मिली होती। दिनकर ने राष्ट्र को एकजुट करने का प्रयास किया है, हम राष्ट्र कभी थे ही नहीं, हम भाषा प्रांत, जाति धर्म के आधार पर बंटे हुए लोग थे, स्वतंत्रता आंदोलन के अग्रदूतों ने इस राष्ट्र को जगाया ही नहीं अपितु नये सिरे से निर्मित करने का प्रयास भी किया। दिनकर का रचना कर्म सही मायनों में राष्ट्र को मजबूती व सुदृढ़ता प्रदान करने वाला साहित्य है। राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्र के उत्पाद के साथ-साथ राष्ट्रीय पहचान की सामूहिक चेतना व आंशिक तौर पर राष्ट्र का निर्माता होता है।

पूरे विश्व साहित्य में संभवतः दिनकर ही ऐसे कवि हैं जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में दो स्तरों पर संघर्ष करते हैं एक लेखकीय कर्म के स्तर पर दूसरे लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अंग बनकर। राष्ट्र की खोज व कल्पना बहुत हद तक उस राष्ट्र के कवि तथा उपन्यासकार करते हैं। उदाहरण के लिए इकबाल ने पाकिस्तान राष्ट्र की कल्पना की। वर्तमान समाज को देखते हुए उनका यह निर्णय हमारे हित में ही दिखता है, क्योंकि मुसलमानों की मानसिकता अभी भी यह है कि हमने 700-800 साल इस देश पर शासन किया है। अब यह कैसे संभव है कि हम सत्ता के केंद्र में न रहें। मुस्लिम नेताओं ने हिन्दू जनमानस का साथ तभी तक लिया जब तक लगा कि मुस्लिम फिर से सत्ता प्राप्त कर सकते हैं, जब उन्हें लगा कि हिन्दुओं की राजनीतिक विरासत अब जाग उठी है, उन्होंने अलग चलने का निर्णय ले लिया।

इसी बहाने भारतीय लोकतंत्र का सफल परीक्षण भी हो गया। अगर विभाजन नहीं हुआ होता तो मुसलमानों की आबादी 33% तक होती। उनमें से अगर मान लीजिए कि हिन्दी को नहीं, हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाता तो क्या हम इस बात पर एकमत हो पाते कि इसकी लिपि क्या हो। गृह-युध्द में भारत उलझा रहता। शायद लेबनान, सीरिया जैसी स्थिति हमारी भी होती। मेरा यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि यह देश हिन्दू राष्ट्र बन जाए, मैं बस एक संभावना पर अपनी बात रख रहा हूँ। मुस्लिम जनता अपने उलेमाओं, देवबंद की बात ज्यादा मानते हैं, परंतु हिन्दू जनता तुलसीदास, अपने धार्मिक नेताओं, शास्त्रों तीनों का मत जानती एवं मानती है।

दिनकर बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार थे। उन्हें कवि रूप में विशेष ख्याति प्राप्त हुई। उनके वैचारिक पक्ष का यथेष्ट मूल्यांकन बहुत कम हुआ है। दिनकर अपने समय के सूर्य थे। उन्होंने सदा मानवता के गीत गाये और संघर्षशील रहे। उनके रेणुका, हुँकार, यदि राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक हैं तो कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी तथा उर्वशी में मानव-जीवन और नर-नारी की शाश्वत समस्याओं का चित्रण है। 1947 तक दिनकर की रेणुका, हुँकार, सामधेनी, बापू, द्वंद्व गीत तथा रसवन्ती जैसी कालजयी रचना प्रकाशित हो चुकी थी। इनमें से अगर रसवन्ती और द्वंद्वगीत को अलग कर दिया जाए तो यह दिखाई पड़ता है कि स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व तक दिनकर के काव्य का मूल स्वर भारत का स्वतंत्रता संग्राम था। दिनकर ने खुद यह स्वीकार भी किया है।

‘‘संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूं जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो और सुयश तो मुझे हुँकार से ही मिला किन्तु

आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है.. राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया। "[7]

कुल मिलाकर दिनकर के व्यक्तित्व की संघटना में तीन तत्वों का प्रधान है- भारत की अतीत परम्परा, सामयिक परिस्थितियों की माँग और छायावादी कोमल अनुभूतियाँ। दिनकर जी की खासियत यह है कि उन्होंने उन सभी तत्वों को समग्र रूप से स्वीकारा है। कवि के रूप में एक विचारक के रूप में युग की माँग को भी पूरा करने का प्रयास किया है। साथ ही कवि अपने अतीत के प्रति भी ईमानदार रहा है।

दिनकर के काव्य में उस प्रवृत्ति को अधिक महत्व मिला है जो उनकी निजी रूचि के विरुध्द सामयिक प्रभाव से पैदा हुई थी। दिनकर ने अपने काव्य में सबसे पहले सामयिक जीवन की चुनौती को स्वीकार किया और एक प्रभावशाली विकल्प को अपनाते हुए उत्तर देने का प्रयास किया। कुछ कहना चाहा, तो अपनी पराधीनता और बेबसी की वास्तविकता का ज्ञान हुआ।

"श्रृंग छोड़ मिट्टी पर आया,

किन्तु कहूँ या गाऊँ मैं जहाँ बोलना पाप,

वहाँ क्या गीतों में समझाऊँ मैं।"[8]

डॉ. सावित्री सिन्हा ने उनका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "दिनकर की काव्य चेतना अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नों से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है। प्रारंभ में उनके सामने काव्य रचना के अनेक और अनिश्चित मूल्य थे। बिहार की विद्रोही राष्ट्रीय चेतना के अग्निमय

---

[7] चक्रवात की भूमिका से, उदयायल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1956.।

[8] हुँकार (आमुख) उदयाचल प्रकाशन , संस्करण -1957

वातावरण में उनके कवि व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं द्वारा उन्हें राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए, छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिलाहट से भी उनका कल्पनाशील युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नहीं रहा यही कारण है कि उनकी प्रारंभिक रचनाओं में उनकी काव्य चेतना के अनेक सूत्र मिलते हैं।"[9]

डॉ. सावित्री सिन्हा का यह मूल्यांकन दिनकर के कवि-व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में काफी उपयुक्त एवं व्यवस्थित है। परंतु दिनकर के वैचारिक पक्ष को यहाँ दरकिनार किया गया है, संभव है कि दिनकर को यथेष्ट समझने के लिए उन सामग्रियों का अभाव हो। दिनकर का वैचारिक पक्ष आजादी के बाद ज्यादा उभर कर आया। स्वतंत्रता के उपरांत देश कई समस्याओं से ग्रस्त था, जैसे हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की कड़वाहट, भाषाई आंदोलन, संस्कृति का प्रश्न, इन्ही प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए वे इन प्रश्नों को अपने विवेचन का विषय बनाते हैं।

दिनकर 1940 तक हिन्दी पट्टी में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अपनी जवानी में वे भावनाओं में कुलबुलाते रहे, परंतु तदोपरांत वे दर्शन, चिंतन की ओर मुड़ गये। दिनकर भारतीय संस्कृति के व्याख्याता के रूप में सामने आते हैं। उसकी गलत व्याख्या से समाज को बचाने का प्रयास करते हैं। दिनकर वर्तमान के कवि थे। प्रेरणा उन्हें वर्तमान से मिलती थी, परंतु इतिहास और परंपरा के मोह के कारण वह अतीत का साथ छोड़ने में असफल रहे, मगर यह प्रवृत्ति हिन्दी पट्टी वालों के लिए सफल रही। दिनकर भारतीय मानस की पराधीनता जो उपनिवेश के क्रम में निर्मित हुई, उससे निकालने का प्रयास करते हैं। दिनकर ने अपने वैचारिक तथा संस्कृति संबंधी लेखन से जातीय तथा राष्ट्रीय चेतना निर्मित करन का प्रयास किया है। नवजागरण के एक सिरे पर इतिहासबोध तथा

[9] दिनकर, सं- सावित्री सिन्हा, पृ. सं. 232, राधाकृष्ण प्रकाशन, द्वि. सं. 1970.

इतिहास चेतना का विचार है तो दूसरी ओर इतिहासहीनता तथा ऐतिहासिक बोध की शून्यता भी। दिनकर इस तिलिस्म को तोड़ते हुए भारतीय जनमानस को समृध्द करने का सराहनीय काम करते हैं। दिनकर सचमुच अपने समय के सूर्य थे। दिनकर का अस्त तो हुआ है, परंतु उनके विचार अभी भी आकाश में विराजमान हैं जो हमें समय समय पर रोशनी प्रदान करने का काम करेगी और भारतीय जनमानस को सांस्कृतिक संकट के दौर से बचाने का भी। अपने इस अध्याय की समाप्ति पी.बी.शेली के इस कथन से करना चाहूँगा जो दिनकर पर हुबहू लागू होता है-poets are the unacknowledged legislators of the world। [10]

[10] http://www.jjroux.com/poets-are-the-unacknowledged-legislators-of-the-world/

अध्याय -2

संस्कृति के चार अध्याय : परिचय और महत्त्व।

संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक की भूमिका देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। वर्ष 2015 की बात है जब वर्तमान प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इस पुस्तक के साठ साल पूरे होने के उपलक्ष्य में आयोजित जलसे में शिरकत करते हुए इस पुस्तक का जिक्र किया था। इस पुस्तक का प्रकाशन 1956 में हुआ था। वह दौर सांस्कृतिक उठा-पटक का दौर था, सांस्कृतिक व परंपरागत श्रेष्ठता, जातीय शुद्धता की बात विश्व के विभिन्न प्रांतों में अपने स्थानीय तेवर में चल रहे थे।

अमेरिका में रंगभेद की नीति के विरूद्ध व्यापक विद्रोह हो रहे थे, महिलाओं के अधिकार की मांग आंदोलन का रूप अख्तियार कर रही थी। वियतनाम युद्ध की लपटें तथा अमेरिका की सोची-समझी राजनीति के तहत उस युद्ध में संलिप्तता अनेक राष्ट्रों के मध्य शीत-युद्ध का कारण बन रही थी। वह दौर संस्कृति और परंपरा के अवलोकन का दौर था, लोकप्रिय संस्कृति के उभार का दौर था।

भारतीय समाज करवटें ले रहा था। राजनीति हावी होनी शुरू हो गई थी, जिसकी पराकाष्ठा आज के समय में स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। संस्कृति और परंपरा को सहेजने के बजाय उसे आधार बनाकर अलगाववाद का बीज बोया जा रहा था। यह देश भारत और पाकिस्तान दो भौगोलिक क्षेत्रों में बँट चुका था। संस्कृति व परंपरा का राजनीतिकरण हो रहा था जो आज भी जारी है। दिनकर की यह कृति उसी परंपरा व संस्कृति की पड़ताल करती है। इस सामासिक संस्कृति को टूटते-बिखरते देख उनका अंतर्मन उन्हें उद्वेलित करता है, इसी का परिणाम है- 'संस्कृति के चार अध्याय'। वैसे दिनकर ने 'भूमिका में स्पष्ट रेखांकित किया है कि इतिहास की

हैसियत यहाँ किरायेदार की है, उसे मकान में जगह तो दे सकता हूँ पर उसके कब्जा करने की बात सोच भी नहीं सकता।'

यह पुस्तक भारतीयता की तलाश करती है। उस भारतीयता की जो चार बड़ी क्रांतियों के फलस्वरूप भी जस-की-तस बनी रही। यह पुस्तक सामंजस्य और समन्वय पर आधारित हमारी धार्मिकता और भारतीयता का मार्ग तलाश करती है। उन स्रोतों पर सीधे हमला करती है जहाँ से सांप्रदायिकता की शाखाएँ फूटती हैं।

नेहरू इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं- यह संभव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सकें, लेकिन इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामाजिक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है, उसकी पहचान करना। भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते हैं तो भारत को समझने में भी असमर्थ रहेंगे। दिनकर बाहरी और भीतरी के प्रश्न से ऊपर उठकर भारतीयता की अवधारणा पर जोर देते हैं, बाहरी और भीतरी का द्वंद्व विभाजनकारी राजनीति ने पैदा किया है। हमारे यहाँ कभी बाहरी-भीतरी का द्वंद्व नहीं रहा, हाँ शुरूआती संघर्ष जरूर हुए हैं पर उसका स्वरूप हिंसक नहीं था। इसी संघर्ष ने समन्वय व सामंजस्य का मार्ग भी प्रशस्त किया था।

ग्राम्शी का 'थ्योरी ऑफ हेजेमनी' तो बाद में अवधारणा के तौर पर विचारकों के बीच आया, हमारे यहाँ इसका व्यावहारिक रूप 2500 ई.पू. से दिखाई पड़ता है। ब्राह्मणों और बौद्धों के संघर्ष को इसी रूप में देखना चाहिए। ब्राह्मण और बौद्धों की आपसी कड़वाहट के बारे में दिनकर लिखते हैं कि- उनके बीच सांप और नेवले का संबंध था। ब्राह्मणों ने कहावत चला दी थी कि जो

व्यक्ति मरते हुए बौद्ध के मुख में पानी देता है, वह नरक में जाता है। अंग, बंग, कलिंग और मगध में जैन और बौद्ध कुछ अधिक थे, अतएव ब्राह्मणों ने इन प्रांतों में जाने की धार्मिक तौर पर मनाही कर दी थी।'' दिनकर इतिहास के आँसू से सबक लेते हुए सांस्कृतिक एकता के पक्षधर रहे हैं। उनका गद्य कर्म परंपरा के गतिशील तत्वों की पहचान पर बल देता है। दिनकर राष्ट्रीयता के प्रश्न को तवज्जो देने वाले लेखकों में से थे, उनकी राष्ट्रीयता कट्टर राष्ट्रवाद से अलग व सामंजस्य-समन्वय-सहभागिता पर आधारित थी। दिनकर भारतीय जनता की रचना नामक अध्याय में लिखते हैं कि ''नीग्रो, आस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, शक, आमीर, हूण, मंगोल इत्यादि इन सभी जातियों के लोग कई झुण्डों में इस देश में आये और हिन्दू समाज में दाखिल होकर सबके सब अंग हो गये। असल में, हम जिसे हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं, बल्कि इन सभी जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है।''[11]

दिनकर के ये विचार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उस विचार की तरफ इशारा करते हैं जहाँ वे लिखते हैं- ''सब-कुछ में मिलावट है, कुछ भी विशुद्ध नहीं है।''[12]

दिनकर का दृढ़ विश्वास रहा है कि सांसृकृतिक समन्वय का काम यहाँ आदिम जाति के आगमन यानी नीग्रो जाति से ही शुरू होता है। आर्य इस देश में काफी देर से आए इसलिए भी आर्यों एवं नीग्रो दोनों की सभ्यता में क्या समानता, असमानता रही है इसका उचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। अठारहवीं शताब्दी तक मैथिल, गौड़ या द्रविड़ शब्द केवल भौगोलिक अर्थ के सूचक थे, अंग्रेजों के आने के बाद ये प्रजातिसूचक शब्द में परिवर्तित हो गए।

दिनकर उन इतिहासकारों पर भी बिदकते हैं जो अपने लेखन में आर्य-अनार्य के भेद पर विचार करते हैं। हालांकि नृविज्ञानी इस बात को स्वीकारते हैं कि आर्य-अनार्य में भेद है, पर दिनकर को यह भेद यूरोपियन तर्कशास्त्र का सम्मोहनास्त्र नजर आता है। दिनकर उन मिथकों को

---

[11]रामधारी सिंह 'दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, उदयाचल प्रकाशन, पृ.सं.28

[12] http://www.abhivyakti-hindi.org/snibandh/lalit_nibandh/2004/ashok.htm

भी एकता स्थापित करने के क्रम में उद्धृत करते हैं जिनसे हमारी सांस्कृतिक एकता पुष्ट होती हो। उदाहरण के लिए दिनकर लिखते हैं- ''अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत के प्रथम सेतु थे, इसका आख्यान उत्तर भारतीय परंपरा में भी है। उत्तर और दक्षिण को विभक्त करने वाला पर्वत विन्ध्य था। अगस्त्य जब दक्षिण को जाने लगे, विंध्य ने नतमस्तक होकर उन्हें प्रणाम किया। अगस्त्य ने आशीर्वाद देते हुए उसे यह उपदेश दिया कि मैं जब तक दक्षिण से न लौटूं, तुम इसी तरह सिर झुकाए पड़े रहो। लेकिन अगस्त्य दक्षिण जाकर फिर वापस नहीं आए। सो विंध्य, अब तक सिर झुकाये, ज्यों-का-त्यों पड़ा है।''[13]

मिथक भी परंपरा का अंग होता है। दिनकर ने उसका इस्तेमाल भी संस्कृति की इस यात्रा में किया है। आज जो प्रश्न पूरे विश्व के सामने अपने भीषण रूप में है वह है सांप्रदायिकता। क्या कारण है कि जो धर्म सबसे ज्यादा अहिंसक माना जाता था, वह भी हिंसा पर उतारू हो गया। म्यांमार व श्रीलंका में हाल में घटी घटनाएँ व बौद्धों तथा मुस्लिमों का संघर्ष इस बात की पुष्टि करता है। हालांकि दिनकर का मानना है कि अहिंसा, द्रविड़ सभ्यता की देन है। बौद्धों को यह परम्परागत रूप में प्राप्त हुआ है। वे यहाँ तक कहते हैं कि- ''जैन तीर्थंकरों व बुद्धदेव का जन्म भी नहीं होता अगर भारतीय परंपरा से अहिंसा बिल्कुल अनुपस्थित रही होती।''[14]

दिनकर की दृष्टि धर्म के क्षेत्र में काफी पैनी है। बौद्ध और इस्लाम धर्म पर उनका विचार इसका प्रमाण है। बौद्ध धर्म के ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति की पहचान के सिलसिले में वे मनुष्य के स्वभाव की भी पड़ताल करते हैं। वे कहते हैं- ''मनुष्य के स्वभाव में अंधविश्वास कहीं-न-कहीं बद्धमूल है। वह देवताओं की पूजा में जितना रस लेता है, उतना रस मनुष्यों की पूजा में नहीं लेता। बुद्ध मनुष्य के रूप में पूजे जाते तो बौद्ध धर्म सत्य के अधिक समीप रहता, लेकिन तब अनुयायी उसे कम

[13] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, उदयाचल प्रकाशन, पृ.सं. 35
[14] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, उदयाचल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-141

मिलते। अतएव, उसने बुद्ध को अलौकिकता प्रदान कर जनता को अपनी ओर खींचने की कोशिश की।''[15]

बौद्ध धर्म की जड़ता के मूल में दिनकर कहीं-न-कहीं यहाँ की अवतारवाद की अवधारणा पर जोर देते हैं एवं उसे भी परंपरा से ही संबद्ध मानते हैं। वे उन सूत्रों को पकड़ते हैं जिसपर यह आधारशिला निर्मित हुई है।

दिनकर अपने लेखन में ऐतिहासिक तथ्यों की नवीन व्याख्या पर ध्यान न देकर केवल उन बदलावों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जो अब हिन्दुत्व के नाम से जाना जाता है। आर्यों का हिन्दू में बदलना तथा वैदिक धर्म का हिन्दुत्व में रूपांतर उनके अनुसार मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक के बीच हुआ है। आर्येतर संस्कृति को आर्य संस्कृति में पचाने का अभियान भी इसी दौर में शुरू हुआ।

दिनकर की इस स्थापना से भी सभी सहमत होंगे कि अगर बुद्ध का जन्म इस धरती पर न हुआ होता तो न ही विद्रोह की परंपरा जन्म लेती और न कबीर, दादू, रैदास होते। बौद्धों की सबसे बड़ी देन वे यही मानते हैं कि उन्होंने जाति-प्रथा के विरोध के विरूद्ध कभी हथियार नहीं डाले। यहाँ तक कि इस देश में विशाल मानवता का आंदोलन चलाने का श्रेय भी दिनकर बुद्ध को ही देते हैं। समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग हमेशा उस व्यवस्था का पक्षधर रहा है जिससे समाज में ऊँच-नीच का भेद बना रहे, जिसे लक्ष्य करके रॉबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर ने महान और लघु परंपराओं से अभिहित किया है। उन्हें शास्त्रीय और लौकिक परंपरा नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। जो मेरे अनुसार भारतीय समाज को विश्रृंखल होने से बचाए रखता है। उदाहरण के लिए वेद बनाम बौद्ध।

---

[15] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, वही, पृष्ठ संख्या-190

बौद्ध धर्म के प्रसार के बाद इस देश में ऐसी विचारधारा अद्यतन रही है जो शास्त्रों के सामने झुकने को तैयार नहीं है और जो सभी बंधनों को तोड़कर विशाल मानवता की रचना करना चाहती है।

हिन्दू-मुस्लिम का प्रश्न आज के समय में कितना प्रासंगिक है इससे कोई इंकार नहीं कर सकता है। भारत का आधुनिक इतिहास तो हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के बिना पूरा ही नहीं होता। हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों की एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति अनभिज्ञता ही वैमनस्य का मूल कारण है। लेकिन कुछ विद्वानों ने इसका दोष केवल हिन्दुओं पर थोपा है। उदाहरण के लिए एम.एन. राय का यह कथन कि- ''संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम के इतिहास से उतनी अपरिचित नहीं है जितने हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति इस्लाम को उतनी घृणा से भी नहीं देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं।''[16]

इन्होंने जो बात कही है वह मुसलमानों पर भी लागू होती है, ऐसे कम ही मुस्लिम इतिहासकार हैं जिन्होंने इस्लामी अत्याचार पर निष्पक्ष होकर लिखा हो। यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम लगभग पन्द्रह सौ वर्षों से साथ जीते चले आ रहे हैं पर उनके दिल साफ नहीं हुए।

हिन्दू-संस्कृति को समझने की जो थोड़ी बहुत कोशिश आरंभ के मुगलों ने की थी, उसकी परंपरा आगे नहीं बढ़ी। मुस्लिम पंडित और विद्वान फारसी भाषा में सीमित हो गये और गूलर के कीड़ों के समान, उन्होंने इस्लाम को ही अपना ब्रह्माण्ड मान लिया।''[17]

दरअसल हिंदुओं से संवाद की परंपरा मुगलों ने ही कायम की थी, इस वजह से भी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियाँ इस काल में निकट आ पाई। इस्लाम का भारतीयकरण होने के बावजूद भी वे अपने को विजेता ही समझते रहे, और शासकीय दायित्व के निर्वहन में असफल रहे। ऐसा इसलिए

---

[16] एम. एन. राय, द हिस्टारिकल रोल आफ इस्लाम,voras co.publishers ltd. सं-1937, पृ.सं.04

[17] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, उदयाचल प्रकाशन, पृ.सं. 272

कह रहा हूँ कि मुहम्मद साहब के जन्म से पहले अरबों को हिन्दू और बौद्ध धर्म का पूरा ज्ञान था। ''जेरूसलम के हमीदिया पुस्तकालय में हारून रशीद के महामंत्री फजल-बिन-यहिया का मुहर लगा हुआ एक ताम्र-पत्र मिला है जिस पर 128 शेर लिखे हुए हैं, जिनमें भारत वर्ष, वेदों और आर्य ज्ञान विज्ञान की बड़ी प्रशंसा की गयी है।''[18]

इस्लाम का उदय अरब में हुआ था। वह ईरान वालों का धर्म नहीं था, किन्तु सभ्यता और संस्कृति में ईरान वालों के सामने अरबी योद्धा बर्बर और अर्धसभ्य थे। इस्लाम धर्म का प्रसार तलवार की नोंक पर हुआ है अगर ऐसा नहीं है तो कैसे इस्लाम के उदय के कुछ वर्षों में ही इसका प्रसार एक ओर तो भारत की सीमा पर पहुँच गया, दूसरी ओर वह अटलांटिक महासागर के किनारे पर जा पहुँचा। दिनकर भी इस बात से इंकार नहीं करते हैं कि इस्लाम का प्रसार तलवार से नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त वे यह भी मानते हैं कि ''उन दिनों अरब का समाज गिरा हुआ समाज था, अरब के लोग बद्दू कहलाते थे और सारा-का-सारा बद्दू समाज घोर रूप से मूर्तिपूजक था।''[19] इसी ऐतिहासिक परिस्थितियों में इस्लाम का उदय हुआ। इस्लाम का आरंभ तो धर्म के रूप में हुआ था, पर कब उसका राजनीतिकरण हो गया पता ही नहीं चला।

भारतीयता एक मनोदशा है। भारतीयता को समझने के लिए भारतीय मानस को समझना बेहद जरूरी है, इसी प्रक्रिया का अनुसरण दिनकर ने अपनी इस कृति में किया है। इस्लाम का आगमन विजेता के रूप में हुआ जरूर पर जिस अनुकूलन, समन्वयन और सांस्कृतिक वैभिन्य के सह-अस्तित्व की प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है, उसका योग इस्लाम के साथ नहीं हो पाया केवल मुगलकालीन दौर को छोड़कर। दिनकर को वे मुस्लिम पसंद हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को समझने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए दिनकर लिखते हैं कि- ''खुसरो कई दृष्टियों से भारत के महापुरुषों में गिने जाने के योग्य हैं।'' साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि यदि

[18] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966,वही पृ.सं. 272

[19] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966,उदयाचल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-326

खुसरो को हिन्दुस्तान ने अपने आदर्श मुसलमान के रूप में उछाला होता तो हिन्दुस्तान की कठिनाइयाँ कुछ-न-कुछ कम हो जाती।''[20] वैसे तो यह पुस्तक 1956 में प्रकाशित हुई थी, परंतु कालांतर में भी दिनकर को यह चिंता सताती रही कि भारत किस ओर करवट लेगा। ऐसी ही चिंता उन्होंने 'आधुनिकता और भारत धर्म' नामक निबंध में प्रकट किया है- ''आजकल मेरा ध्यान इस सवाल की ओर बार-बार जाता है कि आज से सौ पचास-वर्ष बाद भारत का रूप क्या होने वाला है। क्या वह ऐसा भारत होगा जिसे कंबन, कबीर, अकबर, तुलसी, विवेकानंद और गांधी पहचान सकेंगे?''[21]

भारतीयता की जो पहचान इतने लम्बे संघर्ष के बाद उभरी है दिनकर उसे अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं। उसे अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वे संस्कृति में निहित भारतीय एकता के सूत्रों को एक धागा में पिरोने का काम करते हैं। ग्राम्शी के अनुसार- ''व्यापक अर्थ में बुद्धिजीवी वे व्यक्ति हैं जो वर्गीय शक्तियों के संघर्ष में मध्यस्थता के अनिवार्य कार्य को संपन्न करते हैं।''[22] दिनकर ने असल में भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में निहित वर्गीय, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष के बीच से गुजरते हुए उन पहलुओं को सामने लाने का कार्य किया है जिनसे हमारी सांस्कृतिक एकता का चेहरा और साफ होकर निखरता है।

दिनकर इस बात से व्यथित हैं कि अमृत और हलाहल के संघर्ष में विजय अब तक हलाहल की ही हुई है, अमृत हारता रहा है। पहला संघर्ष अकबर और शेख अहमद सर के मध्य हुआ था, जिसमें विजय आखिरकार हलाहल की हुई, दूसरे में भी अमृत यानी महात्मा गांधी के विचारों की हार होती है और हलाहल फिर जीत जाता है। दिनकर के लिए शेख अहमद सर,

[20] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, सं-1966, वही, पृ.सं. 334

[21] रामधारी सिंह 'दिनकर',संस्कृति, भाषा और राष्ट्र,लोकभारती प्रकाशन, सं-2008, पृष्ठ संख्या 179

[22] कृष्णकांत मिश्र, (अनुवादित)सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, दिल्ली ग्रन्थ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, सं-2002, पृष्ठ संख्या-101

औरंगजेब, जिन्ना हलाहल हैं, अकबर और गांधी अमृत। ऐसा परिलक्षित होता है कि विचारों के क्षेत्र में तो हम काफी आगे बढ़े हैं, अपितु अकबर के समय से आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

दिनकर इतिहास के स्वर्णिम दौर की तरफ संकेत करते हुए लिखते हैं- ''इतिहास का वह दौर जब फ्रांस में कैथोलिक लोग प्रोटेस्टेंटों को जिंदा जला रहे थे और इंग्लैंड में प्रोटेस्टेंट लोग कैथोलिकों से फ्रांस का बदला दुगुने बल से चुका रहे थे और जब इनक्विजिगन के मारे स्पेन में यहूदियों का बुरा हाल था, तब भारत में अकबर हिन्दुओं पर किये गये मुस्लिम अत्याचारों के निशान को दूध और अमृत से धो रहा था।''[23]

संस्कृति के चार अध्याय का महत्व समकालीन दौर में और भी बढ़ जाता है जब संस्कृति के नाम पर एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति इतिहास के जख्मों को कुरेदकर बाहर निकाला जा रहा है और उन जख्मों पर मरहम लगाने वालों को दबा दिया जा रहा है। ऐसे में उन शख्सियतों, उन प्रतीकों को व्यापक स्तर पर बाहर लाने की जरूरत है जिनसे हमारी सौहार्द्र निर्मित हुई है।

भारतीय परंपरा की सही समझ के लिए हमें उन विभ्रमों को भेदना होगा जिसे निर्मित करने में राजनीति के साथ-साथ कुछेक इतिहास लेखकों का भी हाथ है। जिस ऐतिहासिक विवेक की अपेक्षा इन विभ्रमों को तोड़ने के लिए चाहिए वह दिनकर में थी, इसी आलोक में उन्होंने संस्कृति के सामाजिक रूप को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। रोमिला थापर ने कहा है कि- ''इतिहासकारों को समय-समय पर रूककर स्थिति का जायजा लेना चाहिए।''[24] दिनकर संस्कृति की इस रचना यात्रा में बीसवीं सदी के पाँचवे दशक में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर केवल विचार ही नहीं करते अपितु उसकी जड़ों तक पहुँचते हुए, उसपर आलोड़न विलोड़न करते हैं। इस तरह दिनकर एक तटस्थ इतिहास लेखन की तरफ़ भी बढ़ते हैं। विश्व में संरक्षणवाद की हवा काफी तेजी से बह रही है, ऐसे में जातीय विजातीय का मुद्दा उठना स्वाभाविक है। ये प्रश्न आज के दौर में

---

[23] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं-1966, पृ.सं 399

[24] श्यामाचरण दुबे, परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन ,सं-1991, पृ.सं.26

इतने प्रासंगिक हैं कि इसका दूरगामी प्रभाव जीवन के हरेक क्षेत्र में पड़ रहा है, इन प्रश्नों को दरकिनार नहीं किया जा सकता है। उदारवादी प्रवृत्तियों के ह्रास को रोकते हुए, हमें संरक्षणवाद को रोकना होगा अन्यथा वैश्विक ग्राम की अवधारणा के साथ-साथ, वैश्वीकरण की बुनियाद पर भी यह किसी बड़े आघात से कम नहीं होगा।

भारत शुरूआत से ही सामासिक संस्कृति का पक्षधर रहा है जिसकी तारीफ UNDP (यूनाइटेड नेशनल डेवलपमेंट रिपोर्ट) ने भी 2005 के अपने रिपोर्ट में की है। उस सामासिक संस्कृति पर पहला आघात गजनबी ने किया था, कालांतर में चंगेज खाँ तथा औरंगजेब ने। इन घटनाओं ने हिन्दुओं के मन में घृणा का ऐसा संचार किया कि आज भी उनका दिल पूरी तरह साफ नहीं हो पाया है। परंपरा और धर्म की जो प्रगतिशील भूमिका रही है, उसे आघात उसी युग में पहुँचा था, वहीं से परंपरा और धर्म का एक दूसरे के साथ संबंध-विच्छेद होता है, एक दरार पैदा होती है, जिसे वर्तमान राजनीति ने और बढ़ाया है।

परंपरा में मिथक भी होते हैं, ऐतिहासिक तथ्य भी, दिनकर ने उन सभी तत्वों का इस्तेमाल सामासिक संस्कृति के विकास के संदर्भ में किया है। नये अध्ययन बताते हैं कि परंपरा की ऊर्जा का उपयोग आधुनिकीकरण के लिए किया जा सकता है। जातीय सृजनशीलता विकास की प्रक्रिया को गति दे सकती है और अवरोधों को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। दलितों के उत्थान को इस बात की पुष्टि के संदर्भ में देखा जा सकता है। श्यामाचरण दुबे लिखते हैं कि- ‘‘भारतीय समाज व्यवस्था ने असहमति, विरोध और विद्रोह की परंपरा को प्रश्रय देकर अपनी विसंगतियों को दूर करने के उल्लेखनीय प्रयास किये हैं और इनके माध्यम से अपनी निरंतरता को बनाये रखा है। उदाहरण के लिए बुद्ध, अश्वघोष, सरहपा, बासवन्ना, कबीर आदि।’’[25] आज के दौर में उदासी, शरणार्थी कैम्प, खून, रेप इन शब्दों का इस्तेमाल जिस बहुतायत में हो रहा है उतना

[25] श्यामाचरण दुबे, परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण-1991, पृ.सं.29

शायद ही कभी हुआ हो। इस तरह की घटनाएँ आज पूरे विश्व में हो रही हैं, ऐसा जातीय सर्वश्रेष्ठता के नाम पर हो रहा है।

जड़ों की खोज एक बुनियादी मुद्दा है इसके पीछे जातीय स्मृतियों का आग्रह है और है नये इतिहास बोध की मांग। जड़ों की तलाश को दिशा-भ्रम तथा उसे लक्ष्य-भ्रष्ट होने से बचाना भी अपेक्षित है, इसी की कवायद है- संस्कृति के चार अध्याय। जातीय स्मृति तो ठीक है पर जातीय दुराग्रह जो आज के समय की एक विशेषता है उससे दिनकर ने अपने आपको बचाये रखा है। उन्होंने आत्मछवि और प्रदत्त छवि जो सामासिक संस्कृति के मूल में है उसका बिना किसी दुराग्रह के विश्लेषण किया है।

सभ्यता व संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय सभ्यता की एक अनूठी पहचान है। संसार में सभ्यता के कई प्राचीन केन्द्र रहे हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश को केवल हम उनके भग्नावशेषों द्वारा ही जानते हैं। भारतीय सभ्यता में एक अविश्रृंखल निरंतरता है। उसी निरंतरता की पुनर्व्याख्या दिनकर ने इस कृति में की है। भारतीयता की भावना हमारे यहाँ धीरे-धीरे विकसित हुई है विशेषकर अंग्रेजों के आने के पश्चात् तथा छापाखानों की स्थापना के उपरांत यह भावना और मजबूत होती गई, परंतु भारतीयता के तत्वों का विश्लेषण प्राय: एकांगी रहा है, दिनकर ने उस एकांगिकता को दूर करने का प्रयास किया है। भारत में सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि कभी भी पूरी तरह विकसित नहीं हुई और इसके अभाव में हमारी संस्कृति का विश्लेषण एकांगी रहा है यहाँ तक कि अलबरूनी ने भी कहा है कि भारतीय लोगों के पास इतिहास- बोध का अभाव है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार “ संस्कृति पैतृक स्मृति या सामूहिक परंपरा नहीं है। इसे लोग पादरियों, स्कूली शिक्षकों, इतिहास की किताब के लेखकों तथा पत्रिकाओं के लेखों, अखबारों के संपादकों और टेलीविजन के प्रवचन कर्ताओं से सीखते हैं।[26]” जब यह पूरा का पूरा माध्यम दुराग्रह से मुक्त न हो तब कैसी इतिहास

[26] श्यामाचरण दुबे, परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 1991, पृष्ठ संख्या 32

दृष्टि व समझ विकसित होती है, इसका उदाहरण वर्तमान विश्व में फैली आपसी विद्वेष की भावना है।

जिबगनियेव ब्रेजिंसकी ने 1914 से 1990 के बीच के बड़े जनसंहारों का हिसाब लगाया है। उनके मुताबिक इनमें 18 करोड़ 70 लाख लोग मारे गए हैं। इन जनसंहारों के मूल में आपसी असहिष्णुता तथा एक धर्म का दूसरे धर्म के प्रति विद्वेष जो संभवतः संवादहीनता की वजह से उपजा हो, इन्हीं कारकों का हाथ है। यह जनसंहार अनवरत रूप से जारी है। समसामयिक विद्वानों ने राष्ट्र को एक कल्पित राजनीतिक समुदाय के रूप में देखा है जैसा कि बेनेडिक्ट एंडरसन ने लिखा है- ''The Nation was an imagined political community and imagined as both inherently limited and sovereign.'' उनका मानना है कि राष्ट्र की अवधारणा एक कल्पित अवधारणा थी, जिसे वास्तविक धरातल पर लाने का काम छापाखानों तथा पूंजीवाद के गठजोड़ ने किया। कोई भी समाज अपनी परंपरा व संस्कृति को पूरी तरह नहीं जीता अपितु उसके तत्वों का इस्तेमाल करता है, उन तत्वों पर विभ्रम का जाल नहीं फैला होना चाहिए, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि के आलोक में उसकी व्याख्या की जाती है, दिनकर ने बखूबी यह काम किया है। श्यामाचरण दुबे भारतीयता के प्रश्न को भावना का प्रश्न मानते हैं और लिखते हैं कि ''भावना यदि ज्ञान पर आधारित हो तो वह अधिक टिकाऊ होती है।''[27]

ध्यातव्य है कि कविता के क्षेत्र में तो दिनकर शुद्ध कविता की खोज पर निकलते हैं पर संस्कृति के प्रश्न पर वे सामासिक संस्कृति की राह पर चलते हैं। दिनकर के सामने इतिहास का सबक था, वे यह समझ चुके थे कि धर्म के भीतर ही अपनी अस्मिता को रेखांकित करना कितना खतरनाक हो सकता है, इसका क्रूरतम उदाहरण इस्लाम उनके सामने था। इसलिए उन्होंने संस्कृति का दामन थामा। 'हमारी सांस्कृतिक एकता' नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि ''संकीर्णता

---

[27] श्यामाचरण दुबे, परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, सं-1991, पृष्ठ संख्या 33

और स्वरूप विस्मृति, अपनी परंपरा के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन से दूर हो सकती है।''
विवेचन का यही आधार उन्होंने अपनी इस कृति में अपनाया है।

उनके सांस्कृतिक विमर्श की महत्वपूर्ण विशेषता भारतीय संस्कृति के उदारवादी-सामंजस्यवादी रूप के अर्थ विस्तार में है। इस देश में संस्कृति को संस्कार देने वाली भी एक परंपरा रही है जिसका नेतृत्व महात्मा बुद्ध से लेकर गांधी तक ने किया है। साहित्य के क्षेत्र में यह काम अश्वघोष, कबीर, बासबन्ना, तुलसी, प्रेमचंद, हजारी प्रसाद द्विवेदी इत्यादि ने किया है। असल मायनों में वे ही प्रामाणिक भारतीय हैं।

सम-सामयिक भारत में संस्कृति एक चिंताजनक दौर से गुजर रही है। जातीय भावना के विस्फोट ने हमारी राष्ट्रीयता की नींव हिला दी है, अभी मैं यह लिख रहा हूँ, लिखने के क्रम में ही खबर आई कि इजरायल को वहाँ की संसद ने कानून पास करके यहूदी राष्ट्र घोषित कर दिया है। इजरायल को तो आप पाकिस्तान की कोटि में नहीं रख सकते, वह एक समृद्ध देश है, साक्षरता के मामले में वह भारत से भी ऊपर है। राष्ट्र और देश में अंतर है, पाकिस्तान एक राष्ट्र है भारत एक देश है। फिर ऐसी क्या बात है जिससे धर्म आधारित देश की भावना को बढ़ावा मिलता है, वह है अभिभावक लोकतंत्र (tutorial democracy), संस्कृति और परंपरा का राजनीतिकरण।

जिस गति से परंपरा और संस्कृति का राजनीतिकरण हो रहा है इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्व के सभी देश धीरे-धीरे इस कोटि में शामिल होते जाएंगे। दिनकर हमें अंध-राष्ट्रवाद की तरफ बढ़ने से रोकने के लिए संस्कृति के सामासिक स्वरूप की याद दिलाते हैं। वर्तमान समय में संस्कृति की उपेक्षा नहीं की जा सकती, आवश्यकता संस्कृति के उत्सवीकरण की नहीं, अपितु सही और स्वस्थ दिशा देने की है। पिछले कुछ दशकों में राजनीति की संस्कृति भी काफी बदल गयी है। सेवा, त्याग, तपस्या और बलिदान के आदर्श पुराने पड़ गये हैं। सत्ता परम आदर्श है। राजनीतिक अवसरवाद सांस्कृतिक प्रश्नों को उलझाकर हिंसक अलगाववाद का समर्थन कर रहा है जिसकी

शुरूआत जिन्ना (एशियाई परिदृश्य में) से होती है। धर्म, भाषा, क्षेत्र को कभी संस्कृति का पर्यायवाची माना गया, कभी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के सवाल पर तीव्र आंदोलन हुए, हिंसक झड़पें हुई। हिन्दी-उर्दू विवाद इसका ज्वलंत उदाहरण है। दिनकर उर्दू को हिन्दू-मुस्लिम एकता की भाषा के रूप में देखते हैं। आगे वे यह भी कहते हैं कि ''औरंगजेब के पूर्व सांप्रदायिक भाषा का जन्म नहीं हुआ था।''[28]

धर्मनिरपेक्ष इतिहास एक सशक्त विधा के रूप में उभरा है, किन्तु सांप्रदायिक उन्माद इसकी स्वीकृति के मार्ग में अवरोधक बना हुआ है। मुसलमानों के एक वर्ग को शिकायत रही है कि अमुक पुस्तक इस्लामी गरिमा को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं करता, वहीं हिन्दू समाज के एक तबके का आरोप रहता है कि वह हिन्दू परंपरा का सही मूल्यांकन नहीं करता और उसकी विराट उपलब्धियों की उपेक्षा भी करता है। लेकिन दिनकर की इस कृति को दोनों धर्मों के ठेकेदारों का विरोध झेलना पड़ा, क्योंकि उनकी यह रचना संस्कृति का समन्वित मूल्यांकन करती है। दिनकर ने हिंदू-बौद्ध के संघर्षों को खुलकर सामने रखते हुए तथा इस्लाम की कट्टरता का निष्पक्ष होकर मूल्यांकन किया है।

समकालीन इतिहास-लेखन में सामाजिक हिंसा के ज्वार पर, संस्कृति के अवमूल्यन पर और इन प्रवृत्तियों के कारणों का तटस्थ विश्लेषण और मूल्यांकन नहीं हो रहा है, जबकि दिनकर यह काम 1956 में कर रहे थे। दिनकर का मानना है कि वर्तमान भारत का जन्म अंग्रेजों के आगमन के बाद होता है। वे लिखते हैं कि जब अंग्रेज भारत आये, भारत का बहुत ही बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे। वे बाहर का तो क्या, अपने देश का भी भूगोल ठीक से नहीं जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था इस काल

[28] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं-1966, पृ.सं. 336

में आकर और भी बढ़ गया था। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्तव्य है, इस बात को लोग बिल्कुल भूल ही बैठे थे।''[29]

दिनकर के इस विचार में देश और समाज के प्रति कर्तव्य का भाव निहित है। इतिहास की विस्मृति की चिंता है। दिनकर के यहाँ भारतीयता व राष्ट्रीयता कभी समाज व संस्कृति से ऊपर नहीं रही है, धर्म के भीतर उन्होंने भारतीयता को नहीं खोजा है जो कि इस्लाम की बहुत बड़ी कमजोरी रही है। हमारी सभ्यता में एक परंपरा रही है कि धर्म को परीक्षा की कसौटी से ऊपर मानना चाहिए, पर दिनकर धर्म को परीक्षा की कसौटी से ऊपर नहीं मानते हैं और उसके अंतर्विरोधों को खुलकर सामने रखते हैं। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की पहली शर्त यह मानते हैं कि हिन्दू छुआछूत की भावना का सर्वथा त्याग कर दें।

दिनकर मानते हैं कि जिस किसी भी जाति का आगमन यहाँ हुआ उसने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया, यह प्रभाव आज भी परिलक्षित होता है। उन्होंने हिन्दुत्व शब्द का पूरी पुस्तक में कई बार प्रयोग किया है। संभवत: यही कारण है कि मार्क्सवादी खेमे में इस पुस्तक को उतनी वरीयता नहीं दी गई जितने की यह हकदार थी। दिनकर के यहाँ जो हिन्दुत्व है वह स्वामी विवेकानंद के आदर्शों वाला वैदिक हिन्दुत्व है, ना कि उग्र हिन्दुत्व। उन्होंने विभिन्न समाजों के दुष्परिणाम की ओर भी संकेत किया है, जैसे कि ब्रह्म समाज, आर्य समाज, इन समाजों का योगदान हिन्दू-पुनरूत्थान के क्षेत्र में तो निस्संदेह अहम है, पर इसी पार्श्व में बिलगाव के बीज भी अंकुरित हो रहे थे और मुस्लिमों के मन पर शंका की परत भी चढ़नी शुरू हो रही थी।

अंग्रेजों के साथ चले लम्बे संघर्ष में हिन्दू पुनरूत्थान को प्राथमिकता तो मिली पर सांस्कृतिक विमर्श को उतना महत्व नहीं मिल पाया जितना हिंदू मुस्लिम सौहार्द्र के लिए अपेक्षित था। कारण स्पष्ट था- पहली प्राथमिकता थी - राजनीतिक स्वतंत्रता। इस लक्ष्यपूर्ति में सांस्कृतिक

[29] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं-1966, पृष्ठ सं-499, 501

विभिन्नताएं दब गयी थीं। परंतु राजनीतिक आंदोलनों ने परंपरा और संस्कृति के प्रतीकों का खुलकर उपयोग किया था। आजादी के बाद जो लक्ष्य केन्द्र में रहा- वह था आर्थिक विकास। अर्थशास्त्र के जानकार जानते हैं कि विकास से विकासशील और विकसित होने में कितना लंबा अरसा चाहिए, हमारे सामने जो तत्कालीन विकसित देश का उदाहरण था, वह अचानक नहीं अपितु दो सौ वर्षों के उतार-चढ़ाव का परिणाम था। पर हमने यह लक्ष्य 20 साल में ही पाने की कोशिश की। इस असंभव महत्वाकांक्षा को बढ़ावा दिया यूरोप के आर्थिक विशेषज्ञों ने। उन्होंने सुझाव दिया कि परंपरा व संस्कृति विकास के मार्ग में अवरोधक हैं, इसलिए उसे बदलना आवश्यक माना गया। सांस्थानिक ढाँचे और जीवन-मूल्य दोनों में परिवर्तन करने की आवश्यकता को अनिवार्य बताया गया।

तीसरा लक्ष्य था सामाजिक समता, नया लक्ष्य था- सांस्कृतिक स्वायत्ता का। जड़ों की तलाश और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न ऐतिहासिक थे, परंतु राजनीति ने इन प्रश्नों को दबाये रखा। 1980 तक लगभग ऐसे चार सौ आंदोलनों की सूची बनी थी, जो जातीय भावना पर आधारित थे और जिनसे सांस्कृतिक परंपरा का प्रश्न जुड़ा था। भारत के उत्तर-पूर्व का नागा और मिजो आंदोलन, तमिलनाडु का द्रविड़ आंदोलन, जो भाषा, संस्कृति और जातीय भावना पर आधारित था। इन प्रश्नों पर हिन्दी प्रदेश के भीतर ना के बराबर विचार हुआ है। वहीं दूसरी तरफ 1956 में दिनकर ऐसे प्रश्नों को सामने रख रहे थे। जाहिर है कि इस पुस्तक को वह स्थान नहीं मिला जिसकी यह हकदार थी। परंपरा, संस्कृति और जातीय भावना पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने इनके अंतर को धुंधला कर दिया है। सांस्कृतिक चिंतन पर जो धुंध हमारे यहाँ छाया हुआ है उसको हटाने का उपक्रम करती है यह पुस्तक। दिनकर की सामासिक संस्कृति की अवधारणा शास्त्रीय परंपराओं और स्थानीय, जातीय और क्षेत्रीय परंपराओं के सह-अस्तित्व पर आधारित है। जहाँ आज इस दौर में संस्कृति एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर

रही है, राजनीति जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रही है, ऐसे वक्त में संस्कृति की सही समझ और परंपरा की सही पहचान नितांत जरूरी है।

एक तरफ विश्व संरक्षणवाद की तरफ बढ़ रहा है वहीं दूसरी तरफ वैश्विक संस्कृति की बात की जा रही है। एक राजनीति का विकृत रूप है तो दूसरा बाजार के विस्तार की आकांक्षा से अनुप्राणित विचार। धर्म को अगर हम इसी तरह संस्कृति से जोड़ते रहे तो हमारा हश्र भी इस्लाम की तरह हो सकता है, जो भारतीय संस्कृति पर एक बड़े प्रहार से कम नहीं होगा। हिन्दू अस्मिता की बात जब मुस्लिम आक्रमण के दौर में उठी तब संस्कृति और धर्म कुछ हद तक साथ हो चली थी, जिसे दूर करने का प्रयास अकबर, गाँधी इत्यादि ने किया। इसी हिंदू अस्मिता की रक्षा के सवाल पर हमने कई नायकों को जन्म दिया जैसे महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी आदि। यह भी जाहिर है कि हिन्दू पुनर्जागरण के बिना भारतीय नवजागरण संभव नहीं था, पर पुनरूत्थान की अलग-अलग धारा ने सांप्रदायिकता का बीज जरूर बोया था।

दिनकर लिखते हैं कि ''भारतीय नवोत्थान का एक प्रधान लक्षण अतीत की गहराइयों का अनुसंधान करना था। यूरोप के पास जो पूँजी थी, उसमें विज्ञान ही एक ऐसा तत्व था, जो भारत को नवीन लगा और जिसे भारत ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया।''[30] यहाँ कुछ चीजें गौर करने लायक हैं, यद्यपि विज्ञानवाद, भौतिकवाद, इतिहास बोध इत्यादि की स्वीकार्यता पहले हिन्दू धर्म के भीतर ही हुई, यह काम राजाराम मोहन राय के प्रयत्नों से हुआ। इस्लाम में तो यह 19वीं सदी के अंत में सर सैयद अहमद खाँ के प्रयत्नों के फलस्वरूप शुरू हुआ, लेकिन ये प्रवृत्ति अंत तक इस्लाम में कम ही पाई जाती रही, फिर भी दिनकर ने भारत शब्द का जिक्र किया है, हिन्दू शब्द का नहीं।

[30] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं-1966, पृ.सं. 533

दिनकर के चिंतन के मूल में भारत है, ना कि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई। भारत विभाजन के उपरांत देश संक्रमण की पीड़ा से गुजर रहा था, विभाजन के कुछ पूर्व से ही हिन्दू-मुस्लिम मन के भीतर एक-दूसरे के प्रति शंकालु दृष्टिकोण का उन्मेष हो रहा था, यह अचानक नहीं हुआ था अपितु ऐसा बीते 25 साल की राजनीतिक उठापटक की वजह से हुआ था। धर्म और संस्कृति का एक दूसरे का पर्यायवाची मान लेने की वजह से हुआ था। तत्कालीन समाज सांप्रदायिकता की आग में इस कदर झुलसा हुआ था कि इन प्रश्नों पर सोचने समझने का वक्त ही उसके पास नहीं था। बुद्धिजीवियों का एक वर्ग इस्लाम को दोष दे रहा था तो दूसरा वर्ग हिन्दुओं को। कविता, उपन्यास बहुतायत में लिखे जा रहे थे, पर चिंतन के धरातल पर संस्कृति संबंधी प्रश्नों की पड़ताल दिनकर ने ही की।

दिनकर लिखते हैं कि-"हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान केवल शांति की व्यवस्था से नहीं पाया जा सकता। असल में, नाव जहाँ अटक गयी है, सरकारों की बाँहें वहाँ तक पहुँच नहीं सकती। वहाँ केवल वे लोग जा सकते हैं जो संत और सुधी हैं, विचारक और कलाकार हैं।"[31]

धर्म और राष्ट्र के नाम पर इतिहास में खून कई बार बहा है। सबसे ज्यादा बलिदान भी इन्हीं आदर्शों के लिए दिए गए हैं। परंतु आधुनिक काल की विशेषता है कि मानवीय आदर्श जैसे-नागरिक अधिकार, लोकतंत्र, शांति और समता के लिए भी अभूतपूर्व संघर्ष इसी काल में हुए। अब्राहम लिंकन, रोजा लग्ज़म्बर्ग, महात्मा गाँधी, मार्टिन लूथर किंग, अनवर सादात, अतातुर्क भी इसी युग की देन हैं। इनके आदर्शों को सहेजने का प्रयास हमारा नैतिक दायित्व है। इस दायित्व को पूरा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम एकता के सूत्रों को ढूँढ़ न निकालें। ऐसा परंपरा और संसकृति की सही समझ के बिना संभव नहीं हो सकता। संस्कृति व परंपरा के क्षेत्र में दिनकर की यह पुस्तक विभिन्न वर्गों की अहंमन्यता को तोड़ती है और उनके प्रतीकों, मिथकों का खुलकर विश्लेषण करती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का इशारा संस्कृति के जिस स्वरूप की

[31] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय,वही, सं-1966, पृ.सं. 726

ओर था, ऐसा लगता है उसी इशारे को पकड़कर दिनकर ने संस्कृति संबंधी प्रश्नों पर विचार किया है और भारत के दिलों पर सभी जातियों का दावा स्वीकार किया। सही मायनों में इस पुस्तक का मूल्यांकन अभी भी अधूरा है।

अध्याय -3

सांस्कृतिक विमर्श : एक परिचय

1. सांस्कृतिक विमर्श : इतिहास

सांस्कृतिक विमर्श की शुरुआत बर्मिंघम सेन्टर फॉर कन्टेमपररी कल्चरल स्टडीज (लंदन) से हुई। यह एक अंतर्विषयक उपागम है। रेमण्ड विलियम्स, स्टुअर्ट हॉल, रिचर्ड होगार्ट, टोनी बेनेट तथा अन्य विद्वानों ने इस क्षेत्र को समृध्द किया। इसके अंतर्गत मानव-समूहों के बीच एवं उसकी संस्कृति का हिस्सा बन जाने वाले (जैसे- खान-पान, संगीत, सिनेमा, स्पोर्ट, बॉलीवुड संस्कृति) तथा उससे अर्थ ग्रहण करने वाले समूहों का अध्ययन किया जाता है। इससे पहले संस्कृति शब्द के अर्थ को जान लेते हैं।

संस्कृतिः-

कल्चर शब्द की उत्पत्ति 'कल्टुरा' और 'कोलेरे' (colere) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है जोतना (to cultivate) इसका अर्थ मान-सम्मान तथा सुरक्षा से भी है। 19 वीं शताब्दी तक आते आते यूरोप में इस शब्द का प्रयोग उच्च वर्ग की आदतों, रीति-रिवाजों तथा पसंद-नापंसद के पर्याय में होने लगा।

सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में संस्कृति का अर्थः-

1. संस्कृति अर्थोत्पादन तथा विचारों की एक प्रक्रिया है।
2. अर्थ पर सत्ता का नियंत्रण होता है।
3. उच्च वर्ग अर्थ को अर्थविस्तार देने का कार्य करता है।
4. संस्कृति के कुछ तत्वों को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत इस बात पर जोर दिया जाता है कि संस्कृति किसी समुदाय व समाज के लिए अर्थोत्पादन का कार्य करती है। समुदायों के बीच आपसी फूट भी उसके अर्थ को लेकर ही होते हैं। अर्थों की रूढ़ता पर भी जोर देने का भी पूरा प्रयास किया जाता है। दर्शन भी यही कहता है कि संसार की सारी समस्याएँ उसके अर्थान्तरण की समस्या है (All philosophical problems are the problem of interpretation)। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत संस्कृति को स्वाभाविक नहीं माना जाता, अपितु इसे उत्पादित माना जाता है। इसके अंतर्गत संस्कृति के उत्पादन और उपभोग पक्ष पर भी बातचीत की जाती है। संस्कृति के उत्पादन और उपभोग का संबंध तीन चीजों से हैं -

1. वर्ग संबंध जो यह तय करता है कि क्या प्रस्तुत करना है।
2. आर्थिक आधार जिसका मकसद यह आकलन करना है कि किसके पास क्रय शक्ति है।
3. इसका बाजारीकरण व विज्ञापन किस तरह किया जाता है।

संस्कृति के उत्पादन व उपभोग का सीधा संबंध सत्ता तथा अस्मिता से है। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत इस बात का विश्लेषण किया जाता है कि कैसे संस्कृति का उपयोग किया जा रहा है तथा कैसे इसकी अवधारणा में साधारण तथा हाशियेकृत सामाजिक समूहों द्वारा बदलाव लाया जा रहा है। इस विमर्श के अंतर्गत लोगों को केवल उपभोक्ता के तौर पर ही नहीं देखा जाता अपितु नए सामाजिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक भाषा के संभावित उत्पादकर्ता के तौर पर भी देखा जाता है। हमारे यहाँ उर्दू भाषा का विचार इसी दृष्टिकोण से करना चाहिए।

अध्ययन की इस पद्धति को 1964 में संस्थागत रूप प्रदान किया गया। 1964 में बर्मिंघम सेन्टर फॉर कन्टेमपररी कल्चरल स्टडीज की स्थापना की गई। रेमण्ड विलियम्स

द्वारा किए गए कार्यों ने इस संस्था की कार्यप्रणाली को काफी प्रभावित किया था। शुरूआती दौर में सैध्दांतिक अंतर्दृष्टि उत्तर संरचनावाद से ग्रहण किया गया था। इस संस्थान की शुरुआती पद्धति पाठ्यक्रम तक ही सीमित थी, जहाँ संस्कृति, अस्तित्व, अस्मिता तथा राष्ट्र को केवल पाठ तथा अख्यान माना गया। इस क्षेत्र में स्टुअर्ट हॉल के द्वारा किये गये कार्यों ने इस विमर्श को प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। विमर्श तथा पाठ्यता पर जोर देना सांस्कृतिक विमर्श की मुख्य पध्दतियों में शामिल है। अंतर विषयक उपागम की यह पध्दति ही इसे व्यापकता प्रदान करती है। स्टुअर्ट हॉल के शुरुआती निबंध जैसे कि इनकोडिंग/डिकोडिंग, 1973 में पहली बार प्रकाशित हुई थी, इस सिध्दांत ने सांस्कृतिक विमर्श का मार्ग मीडिया स्टडीज के भीतर भी प्रशस्त किया।

संस्कृति के सभी रूपों का संबंध संस्था, बाजार, उपभोक्ता तथा नियामक निकायों से है। इसलिए सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत किसी पुस्तक का अध्ययन केवल सौंदर्यपरक दृष्टि से नहीं किया जा सकता है। जैसे किसी उपन्यास का अध्ययन केवल उसके तत्वों के आधार पर या उपन्यास के विकास क्रम से ही जोड़कर नहीं किया जा सकता है, यह भी देखना चाहिए कि प्रकाशन उद्योग तथा लाभ की क्या गुंजाइश है, समीक्षा करने वाले समीक्षक कौन से समुदाय से है, पुरस्कार के पीछे की क्या राजनीति रही है, इन पहलुओं का भी ध्यान रखना चाहिए। विमर्श की इस पध्दति के अंतर्गत इस बात का विवेचन किया जाता है कि कैसे कोई सांस्कृतिक प्रतीक अर्थों की व्याख्या होती है। ये प्रतीक कैसे अस्तित्व और राजनीतिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं, सत्ता से वैधता मिलते ही वे प्रतीक हमारी सांस्कृतिक गतिविधियों में शामिल हो जाते हैं। जैसे- तिरंगा यह उपनिवेशवाद से राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रतीक है। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत यह सवाल किया जाएगा कि तिरंगा ही राष्ट्रीय झंडा क्यों बना ? और भी झंडे तो

प्रतिस्पर्धा में होंगे ? क्या सभी भारतीय चाहे किसी भी धर्म को मानने वाले हों, इस झंडे को अपना झंडा मान रहे थे जब इसे वैधता प्रदान की जा रही थी।

क्लासिकल मार्क्सवाद के अंतर्गत यह माना जाता है कि समाज का संगठन उत्पादन, श्रम के महत्व, मजदूरी प्रथा तथा पूँजी से निर्मित होता है। समाज की सभी संरचनाएँ आर्थिक आधार के परिणाम हैं। रेमण्ड विलियम्स इसकी आलोचना यह कहते हुए करते हैं कि जीवन के जो व्यापक अनुभव हैं वे इस सिध्दांतानुसार दायरे से बाहर हो जाते हैं। मार्क्सवाद के सिध्दांतों में वर्तमान की जो चीजें बाहर है, उसे ही अंदर लाने का काम सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत किया गया है। हमारी विचारधारा को पोषित करने में और हम पर अप्रत्यक्ष प्रभाव छोड़ जाने में वर्तमान समय में सोशल साइट, तकनीक, सिनेमा का असंदिग्ध महत्व है। इन प्रक्रियाओं से हमारी दैनंदिन जीवन की सोच प्रभावित हो रही है। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत सर्किट ऑफ कल्चर (circuit of culture) की केंद्रीय भूमिका है। इसके अंगों में शामिल है;निरुपण, अस्मिता, उत्पादन, उपभोक्ता तथा नियमन। अंग्रेजी में (Representation, Identity, Production, Consumer and Regulation) इस पूरी प्रक्रिया को हम टेलीविजन के उदाहरण के माध्यम से बेहतर तरीके से समझ सकते हैं।

टेलीविजन तथा निरूपण:-

टेलीविजन के अंतर्गत किस तरह के कार्यक्रम आ रहे हैं। सूचनापरक, संवादपरक या मनोरंजक किस तरह के कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा रहे हैं। अधिकांश टी. वी. कार्यक्रम के दौरान आने वाले विज्ञापन किन विषयों पर केंद्रित हैं।

टेलीविजन तथा पहचान/अस्मिताः-

आप देखिए कि टेलीविजन पर आने वाले कार्यक्रम के माध्यम से क्या दिखाने की कोशिश की जाती है। किस उम्र के लोगों को वे अपना लक्ष्य बना रहे हैं। क्या कार तथा मोबाइल फोन के निर्माता युवाओं को देखते हुए विज्ञापन तैयार कर रहे हैं। किस तरह की पहचान को बढ़ावा दिया जा रहा है- परिवार, एकल परिवार, व्यावसायिक संस्कृति इत्यादि। आज तक या अन्य न्यूज चैनलों पर बहस के दौरान जो विशेषज्ञ आमंत्रित किए जाते हैं वे क्या हमारे भीतर एक छवि निर्मित नहीं कर रहें हैं कि टी.वी. पर आना बुध्दिजीवी का पर्याय है। उत्तर-पूर्वी राज्य कभी इन चैनलों के केंद्र में क्यों नहीं होते।

टेलीविजन तथा उत्पादन

टेलीविजन निर्माता अधिकांश कंपनियों को देखिए। उनकी कंपनियों की क्या नीतियाँ है। नियुक्तियां किस तरह होती हैं, कंपनियों का लाभ क्या है। कंपनियाँ भारतीय परिवेश का कितना ख्याल रख रही हैं। क्या यह दावा करती है कि हम भारतीय कंपनी हैं।

टेलीविजन तथा उपभोग

टेलीविजन के खरीददार कौन हैं। जैसे स्मार्ट टी. वी., एल. ई. डी. कौन खरीद रहा है। लोग किसी विशेष मॉडल को ही क्यों खरीद रहे हैं। क्या इसके पीछे फैशन विज्ञापन का हाथ है।

टेलीविजन तथा नियमन

सरकार ने कुछ दिनों पहले A ग्रेड की फिल्मों को यह कहते हुए दिन में दिखाने से मना कर दिया कि इससे भारतीय संस्कृति को नुकसान पहुँच रहा है। सरकार को इससे क्या लेना देना है? सेंसर बोर्ड की क्या भूमिका है?

सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत यह माना जाता है कि सांस्कृतिक रूपों का विश्लेषण करने के लिए सर्किट ऑफ संस्कृति का इस्तेमाल होना चाहिए। सांस्कृतिक विमर्श के अध्ययन में रेमण्ड विलियम्स की संस्कृति व समाज की प्रभावशाली परिभाषा का महत्वपूर्ण योगदान है। "one description of one Experience comes to compose a network of relationship and all our communication systems, including the arts, are literally parts of our social organization . Since, our ways of seeing is literally our way of living the process of communication is in fact the process of community. The offering reception and comparison of new meanings, leading to tension and achievement of growth and change".[32]

हमारे अपने अनुभव तथा उसका निरूपण संबंधों का एक संगठन तैयार करती है। संप्रेषण के सभी माध्यम वो चाहे कला के रूप में हो या कोई और हमारे सामाजिक संगठन का हिस्सा होती है। हम चीजों को भी नितांत निजी नजरिये से देखने के आदि होते हैं इसलिए संप्रेषण की पूरी प्रक्रिया, समुदाय की अभिव्य़क्ति का ही एक हिस्सा है। अर्थों को समझने की प्रक्रिया, उसके तुलना की प्रक्रिया हमारे निजी अनुभवों से प्रभावित होती है। विकास और विवाद के मूल में भी यही पैदा होता है।

[32] An Introduction to cultural studies, pramod nayar, page no. 20, viva book 2007

रेमण्ड विलियम्स ने लोगों के नजरिये को साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में लाने का कार्य किया। 1958 में उनकी कृति कल्चर एंड सोसायटी का प्रकाशन हुआ था, इस पुस्तक में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कैसे संस्कृति की अवधारणा में बदलाव आया है। उन्होंने इस बदलाव की सम्यक पहचान के लिए औद्योगिक क्रांति से लेकर 1950 तक की अवधि का अध्ययन किया है, उनका मानना है कि संस्कृति के प्रति वर्तमान विचार इतिहास तथा आर्थिक वास्तविकताओं से निर्धारित है। शाश्वत संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं होती। इस अवधि में संस्कृति की दो प्रतिस्पर्धी विचार का विकास होता है। एक का संबंध कला से है जिसे उच्च कोटि की कला तथा विशुध्दता से जोड़ा गया तथा इसे ही संघर्ष माना गया। संस्कृति की जो दूसरी मान्यता विकसित हुई उसे विलियम्स ने उन्हीं के शब्दों में A whole way of life माना है। विलियम्स ने संस्कृति के इसी रूप को स्वीकार किया है तथा उच्च संस्कृति और निम्न संस्कृति के भेद को खारिज करने का प्रयास किया है। विलियम्स ने कल्चर एंड सोसायटी तथा The long revolution के माध्यम से उन प्रविधियों तथा सिध्दांतों को विकसित करने की कोशिश की है जिसके माध्यम से संस्कृति, रीति-रिवाजों तथा सामाजिक संबंधों एवं सत्ता संरचना के बीच के संबंधों को समझने में आसानी हो।

सांस्कृतिक विमर्श का ध्येय आधिपत्य की संरचना को समझना तथा उसमें बदलाव लाने की कोशिश भी करना है;विशेषकर औद्योगिक पूँजीवादी समाज में। रिचर्ड होगार्ट, रेमण्ड विलियम्स, ई. पी. थॉमसन तथा स्टुअर्ट हॉल का संबंध इस केंद्र से रहा है। इनकी कृतियों तथा सिध्दांतों को सांस्कृतिक विमर्श का आधारभूत पाठ भी माना जाता है। 1970-80 के दशक में काफी संख्या में आलोचकों के वर्ग ने खासकर रेमण्ड विलियम्स तथा रिचर्ड होगार्ट ने संस्कृति के राजनैतिक तथा सैध्दांतिक महत्व को सामाजिक जीवन से संपृक्त करते हुए पाया कि सांस्कृतिक पाठ हमें सामाजिक अंतर्दृष्टि

प्रदान करती है जो पारंपरिक सामाजिक विज्ञान से गायब था। विलियम्स इसे अपने पदबंध में the structure of feeling कहते हैं। ठीक उसी वक्त रिचर्ड होगार्ट की कृति The uses of literacy (1957) प्रकाशित होती है, जो इस तरफ इशारा करती है कि क्या लोकप्रिय संस्कृति एक और नया छलावा है जिसका ध्येय उन संघर्षों और श्रमिक वर्ग की परंपरा को उसकी आवाज को अमेरिकीकरण के नाम पर छिपाना चाहता है।

इस क्षेत्र में रेमण्ड विलियम्स का जो महत्वपूर्ण योगदान है वह यह है कि उन्होंने संस्कृति के नाम पर हो रहे भेदभावों को मिटाने का प्रयास करते हुए संस्कृति के सामान्यीकरण पर जोर दिया। सांस्कृतिक जड़ता तथा उससे उपजे विस्थापन का अनुभव निजी तथा सार्वजनिक, महानगर तथा शहर के बीच की जटिलता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रेमण्ड विलियम्स का समय नयी समीक्षा से हटकर नैतिकतावादी आलोचना की ओर मुड़ने का भी समय है, जिसके प्रवर्तन का श्रेय एफ. आर. लीविस को जाता है। इसके अतिरिक्त उन पर मार्क्स तथा लेनिन का भी गहरा प्रभाव रहा है। उनके प्रसिध्द कथन – Culture is ordinary (संस्कृति साधारण होती है) ने विश्व में संस्कृति संबंधी भेद को निर्मूल करने का प्रयास किया है। विलियम्स की यह अवधारणा टी. एस इलियट के उस विचार का भी प्रत्याख्यान करती है जिसमें वे लिखते है – A kind of secular priesthood was needed to protect and promote culture (संस्कृति के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए एक धर्मनिरपेक्ष पुरोहित की आवश्यकता पड़ती है) लेकिन विलियम्स उनकी इस धारणा के विपरीत जाते हैं और लिखते हैं कि – "culture rather than being organic and fixed is a product of social

change.”[33] (संस्कृति स्थायी या आवयविक नहीं होती है, वह सामाजिक बदलावों का उत्पाद होती है।

विलियम्स ने संस्कृति के प्रति लोकतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाया है। वहीं इलियट का दृष्टिकोण संस्कृति के संदर्भ में उच्चवर्गीय है। उन्होंने लिखा है – “Ultimately only a kind of cultural Elite can preserve and maintain the culture necessary for a civilized society to exist.”[34] (अंततः संस्कृति की उच्चता ही उस संस्कृति का संरक्षण कर सकती है, जो किसी सभ्य समाज के लिए आवश्यक है। इलियट के इस विचार का बाद के विचारकों ने खंडन किया। विलियम्स मैकेनिस्ट मार्क्सवादी राजनीति को अस्वीकार करते हैं, जो संस्कृति की अवधारणा को ही अस्वीकार करती है, तथा सांस्कृतिक विश्लेषण के उन आधारों की भी आलोचना करते हैं जो अपने विश्लेषण में वर्ग तथा आर्थिक कारकों को स्थान नहीं देती। विलियम्स ने संस्कृति को समग्रता में समझने की कोशिश की है।

सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत कल्चरल इंटरमीडियरीज (cultural intermediares) का भी बहुत महत्व है। यह पद पियरे बोर्दियो ने गढ़ा है। इससे तात्पर्य है कि वे मध्यवर्ती कारक जो सांस्कृतिक उत्पाद या घटना तथा उपभोक्ता के बीच उपस्थित होते हैं। विज्ञापन एजेंसिया इसका बेहतरीन उदाहरण है। इन मध्यवर्तियों का प्रभाव इतना अधिक होता है कि हम वस्तु का उपभोग नहीं करते अपितु उससे जुड़े प्रभाव का उपभोग करते हैं।

[33] https://www.culturematters.org.uk/index.php/culture/theory/item/2310-culture-is-ordinary-the-politics-and-letters-of-raymond-williams

[34] https://www.culturematters.org.uk/index.php/culture/theory/item/2310-culture-is-ordinary-the-politics-and-letters-of-raymond-williams

प्रमोद नायर सांस्कृतिक विमर्श की एक और विशेषता का जिक्र करते हुए लिखते हैं – “The generation of symbolic value that is representation is as central to a cultural process as production and consumption”[35] (प्रतीकात्मक मूल्यों के निर्माण जिसे प्रतिनिरूपण भी कहा जाता है, यह सांस्कृतिक प्रक्रिया के उत्पादन और उपभोग के केंद्र में है)

प्रतिनिधित्व या निरूपण का सवाल सांस्कृतिक विमर्श की केंद्रीय धुरी रही है। जैसा कि स्टुअर्ट हॉल ने भी लिखा है- “By culture, here I mean the actual grounded terrain of practice, representation, languages and customs of any specific society I also mean the contradictory forms of common sense which have taken root in and helped to Shape popular life.”[36](संस्कृति से मेरा तात्पर्य रीति-रिवाज, प्रतिनिधित्व, भाषा की उस जमीन का विश्लेषण करना है जो किसी समाज का आधार होती है। साथ ही सामूहिक समझ की उस अंतर्विरोधी रूप का भी विश्लेषण करना है जिससे लोकप्रिय जीवन आकार ग्रहण करती है।

बेनेट ने सांस्कृतिक विमर्श को परिभाषित करने के क्रम में इसके चार तत्वों का उल्लेख किया है।

1. सांस्कृतिक विमर्श एक अंतर्विषयक क्षेत्र है, जिसके अंतर्गत सत्ता एवं संस्कृति के संबंधों की पड़ताल करने के लिए ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से अंतर्दृष्टि प्राप्त करने की कोशिश की जाती है।

---

[35]pramod nayar, An Introduction to cultural studies, viva books ,Edition-2009, PAGE NO 39
[36] Chris Barker, cultural studies, sage publication, 3rd Edition 2008, PAGE NO. 7

2. सांस्कृतिक विमर्श का संबंध उन सभी विश्वासों, संस्थाओं तथा संस्थानों के वर्गीकरण से है जिसके माध्यमे से लोगों की जीवन शैली में उन मूल्यों, विश्वासों तता आदतों को शामिल किया जाता है।
3. सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत सत्ता के जिन रूपों का विश्लेषण किया जाता है वे काफी व्यापक हैं, तथा जिनमें लिंग, नीति, वर्ग, उपनिवेशवाद सभी शामिल हैं। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत सत्ता के इन रूपों के बीच के संबंधों की खोज की जाती है, तथा संस्कृति व सत्ता के प्रति नए विचारों एवं दृष्टिकोण का समावेश किया जाता है जिससे बदलाव की दिशा में बढ़ा जा सके।
4. सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत हो रहे अध्ययन का केंद्र बिन्दु केवल क्लासरूम या पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित नहीं है, जहाँ अन्य विमर्श पुस्तकों तक ही सीमित है, वहीं सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत संस्थाओं से बाहर घट रही घटनाएँ, वे चाहे सामाजिक स्तर पर हो या राजनीतिक स्तर पर, उन घटनाओं से भी अंतर्दृष्टि प्राप्त की जाती है।

सांस्कृतिक विमर्श अपने सैध्दांतिक आधार को ज्ञान की विविध शाखाओं से प्राप्त करती है। उन सिध्दांतो का जिक्र होना भी यहाँ जरूरी है, जिससे सांस्कृतिक विमर्श की व्यापकता को आसानी से समझने में मदद मिल सकती है। वैसे तो उत्तर-आधुनिक युग में विमर्श की व्यापकता की शर्त ही उसकी पध्दति की व्यापकता है, संभवतः इसलिए इतिहास, कविता के अंत की घोषणा इस युग में की गई। सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत जिन सिद्धांतों का जिक्र बार-बार आता है वे निम्नवत हैं।

सांस्कृतिक भौतिकवाद या पदार्थवाद यह एक नृविज्ञान पर आधारित मानव समुदाय के विश्लेषण का एक नजरिया है। इस सिध्दांत के अनुसार भौतिक संसार मानवीय व्यवहार को प्रभावित करता है। इसके अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था को तीन स्तरों पर वर्गीकृत किया जाता है, जो एक वैश्विक पध्दति का निर्माण करती है- 1.

Infrastructure, (अवसंरचना) 2. Structure, (संरचना) 3. Super structure .(अधि संरचना)

अवसंरचना इसके अंतर्गत इस बात की पड़ताल की जाती है कि कैसे लोगों की सामान्य जरूरतें पूरी होती हैं, तथा स्थानीय परिवेश से इन लोगों के संबंध कैसे हैं। **संरचना** शब्द यहाँ आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन के अर्थ में प्रयोग किया गया है। वहीं **अधिसंरचना** का संबंध विचारधारा तथा प्रतीक से है। इसके अंतर्गत अवसंरचना को ही सभी स्तरों का स्त्रोत माना जाता है।

संरचनावाद – इस सिध्दांत के अंतर्गत यह माना जाता है कि शब्दों के अर्थ पूरी तरह से स्वेच्छाचारिता पर आधारित होते हैं। जो लगातार उपयोग एवं परंपरा की वजह से रूढ़ हो जाते हैं। शब्द इसीलिए भी अर्थ उत्पन्न करते हैं क्योंकि एक शब्द दूसरे शब्द से भिन्न है। जैसा कि प्रमोद नायर ने लिखा है कि – "structuralism in cultural studies ask us to look at the rules that govern meaning formation through a system of difference and relation between signs and their context."[37] (संरचनावाद से यह अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है कि उन नियमों का भी मूल्यांकन किया जाए, जिसके आधार पर अर्थों के निर्माण की प्रक्रिया संचालित होती है, ऐसा एक शब्द से दूसरे शब्द के बीच के अंतर तथा प्रतीक तथा संदर्भों के बीच के संबंधों की वजह से होता है।

उत्तर संरचनावाद तथा विखंडनवाद

उत्तर संरचनावाद सिद्धांत के अंतर्गत भाषा का रूप स्थिर नहीं होता। अर्थ अंतर का परिणाम होता है। अंतर की यह प्रक्रिया निरंतर चलते रहती है। प्रतीकों का कोई

[37] An Introduction to culture studies,Pramod nayar, page no. 52, viva books.edition-2009

सीमित अर्थ नहीं होता, क्योंकि प्रतीक दूसरे चिन्हों की तरफ भी इंगित करते हैं। उदाहरण के लिए हमें बिल्ली शब्द को समझने के लिए जानवर या चार पैरों वाला जानवर, ये समझना होगा फिर मानव है या अमानव यह भी जानना होगा, फिर मानव तथा जीवन क्या है। प्रत्येक पद को समझने के लिए यहाँ एक नए शब्द की आवश्यकता पड़ रही है। इसका ध्येय यह है कि जब अर्थ कभी स्थिर नहीं होता है तब मानवीय पहचान या अस्तित्व जो भाषा का उत्पाद है वो भी कभी स्थिर नहीं हो सकता। केंद्र की पहचान किनारे से अंतर की वजह से होती है। इसलिए केंद्र को समझने के लिए हमें किनारे को समझना भी जरूरी है।

माइकल फूको एवं सत्ता तथा ज्ञान

फूको की रूचि इस बात में थी कि कैसे सत्ता की संरचना, ज्ञान की संरचना पर निर्भर है। कला, विज्ञान, चिकित्सा का ज्ञान हासिल करने के बाद कैसे उन विषयों का निर्माण किया जाता है, जिससे दूसरों पर नियंत्रण रखा जा सके। फूको लिखते हैं कि – "Certain authorities who possess power in society produces knowledge about those who lack powers. Such a system of knowledge is called discourse. The arts, religion, science and the law are discourse that produce particular subjects."[38] कुछ प्राधिकरण, जिनके हाथ में सत्ता है, वे जिनके हाथ में सत्ता नहीं है, उसके बारे में विचार प्रस्तुत करते हैं, इस तरह की व्यवस्था को हम अपनी सुविधा के लिए विमर्श कहते हैं। कला व धर्मशास्त्र, विज्ञान तथा कानून ऐसे ही विमर्श हैं जिसके तहत किसी खास विषय पर चिंतन होता है। फूको की इस अवधारणा को इस चार्ट के माध्यम से समझा जा सकता है।

[38] Pramod nayar, An introduction to cultural studies, viva books, Edition- 2009, page no 52

श्रेणी	विमर्श	प्राधिकरण या सत्ताधारी	दोष निवारण या शोषक
अनैतिकता	धर्म	पूजारी	पश्चाताप
गरीबी या भूखमरी	अर्थशास्त्र	अर्थशास्त्र या सामाजिक विश्लेषण	जबरन मजदूरी
अपराधी	कानून	पुलिस/न्याय दल	कैद
पागल	मनोचिकित्सक/मनोविश्लेषण	मनोचिकित्सक	पागल खाना
बीमार	चिकित्सा शास्त्र	सर्जन	अस्पताल

उपर्युक्त प्रयोग में आए श्रेणी, विमर्श, प्राधिकरण तथा दोष-निवारण शब्द अनूदित हैं इनके लिए जो मूल शब्द इस अवधारणा में प्रयुक्त हुए हैं, क्रमशः वे शब्द हैं- category, discourse, authority तथा correctiveI दोष निवारण या शोषण का

लक्ष्य जहाँ सत्ता के दिशा-निर्देशों का अमल करना है। वहीं प्राधिकरण या सत्ताधारी का काम इस पूरी प्रक्रिया को वैधता प्रदान करना है।

फूको सत्ता तथा ज्ञान के अंतर्संबंधों के पड़ताल के क्रम में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तटस्थ ज्ञान जैसी कोई चीज होती ही नहीं। वे मानते हैं कि ज्ञान का इस्तेमाल प्रभुत्वशाली समूह की रुचियों का पोषण करने के लिए होता है। सत्ता तथा ज्ञान के आपसी संबंधों को समझने के लिए हमारे पास एक व्यावहारिक उदाहरण भी है। जब शुरूआत में मोबाइल फोन बाजार में आया तब यह बहस चल रही थी कि यह कैंसर का कारण हो सकता है। अचानक इस तरह की रिपोर्टों का आना बंद हो गया।

गायत्री स्पिवाक तथा अधीनस्थ समूह

इन्होंने मार्क्सवाद, नारीवाद तथा विखंडनवाद से अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हुए अपने उत्तर-उपनिवेशवाद संबंधी अध्ययन को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। उनके इस अध्ययन का इस्तेमाल सांस्कृतिक विमर्श में भी किया जाता है। सबल्टर्न शब्द उन्होंने इटली के मार्क्सवादी आलोचक एंटोनियो ग्राम्सी के यहाँ से लिया है। अधीनस्थ समूह उनके चिंतन के केंद्र में है। उनके जो विचार साहित्य में प्रचलित है, वह यह है कि अधीनस्थ समूह अपनी बात, अपने हक, अपने आप नहीं रख सकते हैं। क्योंकि उपनिवेशी सत्ता की संरचना ने उन समूहों का अनुकूलन कर दिया है। महिलाओं के लिए तो यह स्थिति और भी भयावह है। क्योंकि उन्हें दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता है, उपनिवेशवादी संरचना तथा पितृसत्तात्मक संरचना से। उपनिवेशवाद के दौरान अंग्रेजों ने उनके बोलने का हक अपने पास रख लिया था। राष्ट्रवादियों ने उनकी आवाज का इस्तेमाल अपने पक्ष में किया था। राष्ट्रवाद तथा उपनिवेशवाद की हवा में स्त्रियों की आवाज उपेक्षित ही रह गई। गायत्री स्पिवाक के उपनिवेशवाद संबंधी अध्ययन उपरांत,

इतिहास लिखने की नई पध्दति का विकास भी यहीं से होता है। जिसे सबल्टर्न स्टडीज परियोजना के नाम से, 1982 में रणजीत गुहा के नेतृत्व में विकसित करने का प्रयास किया गया। रणजीत गुहा तथा इस परियोजना से संबंध अन्य इतिहासकारों का मानना है कि परंपरागत इतिहास लेखन ने उच्च वर्ग की उपलब्धियों का केवल जश्न मनाया है। स्वतंत्रता संघर्ष को मोटे तौर पर गाँधी, नेहरू, तिलक तक ही सीमित करने का प्रयास किया गया।

मार्क्सवाद

मार्क्सवाद के अंतर्गत संस्कृति को सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों का परिणाम माना जाता है। जहाँ सांस्कृतिक रूप, श्रमिक वर्ग तथा विचारधारा, लोगों के बीच यह विश्वास स्थापित करने का प्रयास करती है कि सब कुछ सही है। इसका एक व्यावहारिक उदाहरण 2000 के दशक में कॉल सेंटर में आई नौकरियों में हुई वृध्दि तथा इस क्षेत्र के उभार में देखा जा सकता है। कॉल सेंटर में नौकरियों में हुई वृध्दि को आर्थिक तरक्की माना गया जबकि वास्तविक आर्थिक भेदभाव के बारे में बात अभी भी नहीं की जाती है, इन क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को अमेरिकन समकक्ष के मुकाबले बहुत कम वेतन मिलता है।

मार्क्सवाद के अंतर्गत यह माना जाता है कि सामाजिक संबंध उत्पादन के स्वामित्व के आधार पर निर्धारित होते हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित विचार भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण की उपज हैं।

1. उत्पादन का पूँजीवादी आधार अपने आप को स्थापित करता है।
2. वर्ग सामाजिक संघर्ष की मूल इकाई है।
3. शोषित वर्ग यह समझता है कि यह असमानता स्वाभाविक है।

4. विचारधारा की सततता तथा पुनर्उत्पादन सांस्कृतिक रूपों के माध्यम से होता है।

एंटोनियो ग्राम्सी ने बाद में विचारधारा के संस्थागत व सांस्कृतिक आधारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। ग्राम्सी मानते हैं कि विचारधारा किसी भी रूप में अपना काम कर सकती है, फिर वो चाहे राजनीतिक प्रोपगेंडा हो, उपदेश हो, लोककथा हो या लोकप्रिय गीत हो। उन्होंने अपने आधिपत्य की अवधारणा के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि विचारधारा कैसे काम करती है। वे लिखते हैं कि आधिपत्य भौतिक तथा विचारधारा के उपकरणों के बीच का संबंध है जिसके माध्यम से प्रभुत्वशाली वर्ग अपनी सत्ता कायम रखने में सफल होता है, तथा प्रभुत्वशाली वर्ग के विचारों को संस्थागत रूप देने का भी प्रयास किया जाता है, ऐसा न्यायालय, अफसरशाही तथा धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है।

"Hegemony is the Nexus of material and Ideological instrument through which the dominant classes maintain their power; the ideas of dominant class are institutionalized in the civil society; the law Courts the bureaucracy and the religious Institution ."[39]

अल्थुसर के लिए विचारधारा एक व्यवस्था में व्यक्ति के निर्माण के कारक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह व्यवस्था व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करती है। व्यक्ति को ऐसा विश्वास दिलाया जाता है कि जैसे वे स्वतंत्र हों। अल्थुसर ने इसके लिए 'Interpellation' शब्द गढ़ा है।

[39] pramod nayar, An Introduction to cultural studies, viva books, Edition-2009 page no. 64

उत्तर -आधुनिकता और सांस्कृतिक विमर्श:-

उत्तर आधुनिकता के अंतर्गत उच्च-वर्गीय संस्कृति और लोक-संस्कृति के भेद से इंकार किया जाता है। इसके अंतर्गत उन विचारों को सामने लाने का प्रयत्न किया जाता है जिसके तहत किसी विशेष रूप, पाठ को क्लासिक, शाश्वत तथा सार्वजनिक की श्रेणी में डाला जाता है। उत्तर-आधुनिकता के अंतर्गत महा-आख्यानों के प्रति अविश्वास अपनाया जाता है। उत्तर-आधुनिकता के विचारक यह मानते हैं कि ज्ञान की सारी शाखाएँ खंडित पूर्वाग्रहयुक्त तथा अपूर्ण होती हैं। ज्ञान की स्थानीयता का इस्तेमाल कर सच के किसी हिस्से को जाना सकता है। व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान तथा उसकी आवाज का इस्तेमाल महा-आख्यानों के प्रतिरोध में किया जा सकता है।

सांस्कृतिक विमर्श एक अंतर्विषयक उपागम है, जहाँ ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का इस्तेमाल संस्कृति के सम्यक् मूल्यांकन के लिए किया जाता है। संस्कृति ही एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग वर्तमान समाज में धड़ल्ले से हो रहा है, शब्दों के नए अर्थ गढ़े जा रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण ही सांस्कृतिक विमर्श का उद्देश्य है।

अध्याय – 4

सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय

अगस्त 1947 में भारत की आजादी के साथ ही अंग्रेजों के 300 सालों की औपनिवेशिक साम्राज्य का भी खात्मा होता है। 14 अगस्त 1947 की रात से ही भाग्य के साथ आँखमिचौली का सिलसिला भी शुरू हो जाता है। भारत के भविष्य को लेकर चिंतकों के बीच तमाम तरह की आशंकाएँ भी जाहिर होती रही। हिंदुस्तान की आजादी के साठ सालों के दौरान यह सवाल बार-बार उठाया जाता रहा कि यह मुल्क कितने दिनों तक एक रह पाएगा या यहाँ लोकतंत्र की प्रक्रिया या संस्थाएँ कितने दिनों तक काम कर पाएंगी? हरेक प्रधानमंत्री की मृत्यु के बाद ये आशंका जताई जाती रही कि अब लोकतांत्रिक शासन की जगह सैनिक शासन ले लेगा, हरेक अलगाववादी आंदोलन के जन्म लेने के बाद यह आशंका व्यक्त की जाती रही कि हिंदुस्तान एक एकीकृत राष्ट्र के रूप में दुनिया के नक्शे से गायब हो जाएगा। सांस्कृतिक विविधता और गरीबी को मुख्यतः पश्चिम के विद्वानों ने राष्ट्रीय एकता में बाधक माना और एक राष्ट्र के रूप में भारत के भविष्य को लेकर आशंका व्यक्त की। ऐसे विद्वानों में रॉबर्ट डल जैसे मशहूर राजनीति विज्ञानी भी शामिल थे।

भारतीय संदर्भ में संघर्ष कई बिंदुओं पर चलते रहते हैं। संघर्ष के ये बिंदु कई बार एक साथ हो लेते हैं। ये चार मुद्दे निम्नांकित हैं-

पहला मुद्दा जाति – यह मुद्दा बहुत सारे भारतीयों के लिए एक मुख्य पहचान का विषय है। यह तय करता है कि किससे शादी करेंगे, किससे दोस्ती करेंगे और किससे लड़ाई करेंगे।

उसके बाद दूसरा मुद्दा है भाषा। स्वाभाविक तौर पर राष्ट्रीय एकता और भाषायी विविधता कभी एक दूसरे की पूरक नहीं रही है। भाषा के आधार पर भारतीय आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं।

संघर्ष का तीसरा कोण धर्म से संबंधित है। एक अरब से ज्यादा की आबादी वाले इस देश में एक विशाल बहुसंख्या हिंदुओं की है। लेकिन दुनिया में मुसलमानों की दूसरी सबसे बड़ी आबादी यानी करीब अठारह करोड़ मुसलमान भी भारत में रहते हैं। भारत में संघर्ष इन्हीं दोनों धर्मों के बीच रही है।

संघर्ष का चौथा कारण वर्ग है। भारत बेमिसाल सांस्कृतिक विविधताओं का देश है। लेकिन यह उतना ही भीषण सामाजिक विषमताओं का देश भी है। इन विषमताओं ने भी बहुत सारे विरोध के आंदोलनों को जन्म दिया है। दिनकर ने इन सारे पहलुओं का समावेश अपनी इस पुस्तक में किया है। 20 वीं सदी का भारत सामाजिक संघर्षों की प्रयोगशाला रही है। यह प्रयोग भी अभी तक सफल रहा है, इसलिए भी कई इतिहासकारों ने भारत को एक अस्वाभाविक राष्ट्र के तौर पर देखा है।

आज का प्रेस चाहे वो ब्रोडशीट हो या टेबुलॉयड, सनसनीखेज हो या गंभीर, भारतीय हो या पश्चिमी, सारे के सारे भारत की आर्थिक तरक्की की खबरों से अंटे पड़े हैं। इन खबरों से संस्कृति व इतिहास के पहलू लगभग गायब रहे हैं। संस्कृति हमारे भीतर कहीं किसी कोने में गहरे तौर पर बैठी होती है। इसलिए एक लेखक के लिए इससे असंपृक्त हो पाना संभव नहीं हो पाता है, शायद यही वजह है कि इलियट जैसे महान कवि ने भी यह घोषणा की कि मैं कैथोलिक हूँ।

दिनकर मूलतः आस्थावादी रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृति के पहलू पर विचार किया है। संस्कृति को स्थूल रूप में न लेते हुए सूक्ष्मता से उस पर विचार किया है। भारतीय मार्क्सवादी लेखन की सबसे बड़ी विसंगति यही रही है कि धर्म व संस्कृति के पहलू को उन्होंने चिंतन से असंपृक्त रखा। कला और धर्म के गठजोड़ ने मध्यकालीन भारतीय कला को नई ऊँचाईयों पर प्रतिष्ठित किया था। इलियट तो धर्म को संस्कृति के अंतर्गत देखते थे और संस्कृति के लिए धर्म को आवश्यक मानते थे।

संस्कृति को गतिशील अवधारणा माना जाता है। आज भी विश्व में कुछ ऐसे शब्द हैं जिन्हें सीमित परिभाषा में बाँधना एक दुरूह कार्य है। मेरा भी यह मानना है कि किसी चीज को परिभाषा में बाँधना उसकी बहुस्तरीयता को सीमित करना होगा। उन्हीं शब्दों में से एक शब्द संस्कृति भी है। अन्य शब्द धर्म, नैतिकता आदि हैं। रेमण्ड विलियम्स संस्कृति को समाज के बौध्दिक विकास की अवस्था, कला, किसी समूह की जीवन शैली तथा व्यक्ति की स्वतंत्र चिंतन पध्दति से इसका संबंध जोड़ते हैं। उत्तर- संरचनावाद के अंतर्गत तो उत्तर-आधुनिकता को पूँजीवाद का सांस्कृतिक विमर्श माना जाता है।

सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत जीवन के व्यापक अनुभवों को महत्व दिया जाता है। रेमण्ड विलियम्स जिसे डिटेल्ड एक्सपीरियंस पद से संज्ञापित करते हैं। दिनकर की यह कृति इतिहास को किरायेदार की हैसियत यों ही नहीं देती। इसके पीछे उनका अनुभव है, जो संस्थागत इतिहास लेखन को विचारधारा की प्रस्तुति मात्र मानता है। दिनकर की यह कृति विमर्श की केन्द्रीयता को तोड़कर आगे बढ़ती है। फूको भी मानते हैं कि ज्ञान की स्थानिकता में वर्चस्व का प्रतिरोध मौजूद रहता है। बहुत सारी घटनाएँ, मिथक, लोकोक्ति और छोटे-छोटे ब्यौरे भी एक वृहद् इतिहास-बोध की निर्मिति में सहायक होते हैं, इतिहास को केवल वर्ग संघर्ष की ही उपज नहीं माना जा सकता क्योंकि वर्ग-संघर्ष के बाहर भी

कई-विमर्श निर्मित हुए हैं, आधुनिक विमर्श जैसे – नारीवादी विमर्श, पर्यावरणीय विमर्श इसके प्रमाण हैं।

दिनकर ने हिंदुत्व शब्द पर छाये संशय तथा संभ्रम को भी दूर करने का प्रयास किया है। हिंदू शब्द पर संशय की स्थिति 20 वीं शताब्दी में भी बरकरार रही है। हिंदू, हिंदुस्तान तथा हिंदुत्व केवल शब्द ही नहीं हैं, अपितु एक सभ्यता तथा इतिहास की परिचायक हैं। हिंदू शब्द को संकीर्ण बनाने का काम औपनिवेशिक दृष्टि के साथ भारतीय चिंतकों ने भी बखूबी किया है। यह स्पष्ट नहीं है कि बंगाल की सीमा में रहते हुए ही विचारकों ने इस शब्द को संकीर्ण पाया या उस चौखटे से बाहर निकलकर भी उन्होंने इस शब्द की व्याख्या की है। रणजीत गुहा का मानना है कि – "भारत में जिस राष्ट्रवाद का जन्म हुआ वह यहाँ उपनिवेशवादियों की प्रशासनिक सत्ता का परिणाम था। इस राष्ट्रवाद के तहत अतीत को नए सिरे से देखने का प्रयत्न किया गया। राष्ट्र का गौरवमय इतिहास होना चाहिए, इसलिए जहाँ गौरव नहीं था, वहाँ भी गौरव की कल्पना की गई। यह केवल हिंदुओं का गौरव था। इसलिए जिस राष्ट्रवाद का उदय हुआ वह हिंदू राष्ट्रवाद था।"[40]

राष्ट्रवाद को हिंदू धर्म से जोड़ने का कार्य मार्क्सवादी विचारकों के बीच खूब प्रचलित है। लेकिन गुहा के विचारों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वे बंगाल की सीमा में रहते हुए ऐसा कर रहे हैं या उससे बाहर निकलकर, क्योंकि दिनकर यह मानते हैं कि हिंदुस्तान में जो कोई भी रहता है, उसकी चाहे जो भी जाति या रंग हो, सभी हिंदू हैं। दिनकर ने हिंदू शब्द को समावेशी बनाने का काम किया था।

---

[40] रामचंद्र तिवारी, हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास, विस्वविद्यलय प्रकाशन, 11 वाँ सं. 2016 वारणसी,   पृ. सं. 762

विचार को संवाद के केंद्र में लाने से पहले ही अस्वीकार कर देना अलोकतांत्रिक है। मार्क्सवादी चिंतकों ने यह अन्याय तो हिंदुत्व के साथ तो किया ही है। उत्तर – आधुनिकता के अंतर्गत यह माना जाता है कि ज्ञान-विज्ञान का विकास वर्चस्व स्थापित करने के उपक्रम पर आधारित रहा है। फूको राजनीति और आर्थिक ताकत के अलावा और एक ताकत का जिक्र करते हैं जो वर्चस्व स्थापित करने में कारगर है ;वह है ज्ञान की विविध शाखाएँ। बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohn) जो ब्रिटिश भारत के नृविज्ञानी थे, उन्होंने स्पष्ट लिखा है – उपनिवेशी नृविज्ञान तथा जनगणना ने जातियों तथा धर्मों के राजनीतिकरण को बढ़ावा दिया था।

सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत संस्कृति के उद्योगीकरण की प्रक्रिया को रोकने का प्रयास किया जाता है। संस्कृति का उद्योगीकरण लोगों को जातीय विस्मृति से विच्छिन्न करने का काम करता है। यह काम संस्कृति की गलत व्याख्या कर संभव बनाया जाता है। संस्कृति के सामासिक स्वरूप की समझ का ख्याल रखना आज बहुत ही आवश्यक हो गया है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब तटस्थ मूल्यांकन पर आधारित किसी कृति को पढ़ा जाए, हिंदी प्रदेश में दिनकर से बेहतर विकल्प हमारे सामने उपलब्ध नहीं हो सकता।

यद्यपि संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमें साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, लोकवार्ता, राजनीति सभी का समावेश होता है, तथापि वह मूल रूप से इतिहास का ही अंग है। इतिहास के अंत की घोषणा, यह घोषणा आज संदर्भवान प्रतीत होती है जब इतिहास के नाम पर विचारधारा की आवृति में आने वाली बातों को परोस दिया जाता है। लेकिन दिनकर की इस कृति में विचारधारा नहीं, एक कवि हृदय,भावुकता, उसकी सामासिक समझ, समन्वयवादिता की ओर बढ़ाने वाले रास्तों का उल्लेख है, ऐसे रास्ते आम जन के लिए तो अच्छे होते हैं, परंतु धर्म के ठेकेदारों के लिए कंटकाकीर्ण होते

हैं, यही वजह है कि हिंदू-मुस्लिम दोनों धर्मों के बीच यह किताब विवाद का विषय बनी थी। प्रमाण स्वरूप उनकी इस टिप्पणी को ही देख लीजिए – "औसत हिंदू का लक्षण यह है कि मानसिक धरातल पर वह अत्यंत उदार होता है किंतु आचरण के स्तर पर उसकी संकीर्णता भी भयानक होती है। इसके प्रतिकूल सामाजिक आचारों में मुसलमानों की उदारता उदाहरणीय है, किंतु मानसिक धरातल पर मुसलमान कट्टर होते हैं।"[41] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के यहाँ मनुष्य की श्रेष्ठतम साधनाएँ संस्कृति है, उन्हीं साधनाओं को इतिहास के रूप में सामने लाना दिनकर का उद्देश्य है।

सांस्कृतिक विमर्श की अनेक प्रवृत्तियाँ रही हैं जो देश-काल के अनुसार परिवर्तित होती रही हैं। सांस्कृतिक विमर्श एक बहुआयामी तथा अंतर्विषयक उपागम है। भौगोलिक भिन्नता के साथ-साथ इसमें भी बदलाव देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए कनाडा के अंतर्गत यह विमर्श पूरी तरह से राष्ट्रवाद के प्रश्न पर केंद्रित है। प्रौद्योगिकी तथा मीडिया का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को भी मार्शल मैकलुहान जैसे कनाडाई विचारकों ने शामिल किया है। फ्रांस में इसके केंद्र में अमेरिकी संस्कृति तथा उपभोगक्तावादी संस्कृति के प्रभाव तथा उसकी पड़ताल पर जोर है। वहीं अमेरिका में इसके केंद्र में लोकप्रिय संस्कृति और श्रोता तथा दर्शकों के साथ उसके अंतर्संबंधों पर आधारित है।

दक्षिण एशिया के संदर्भ में हम सांस्कृतिक विमर्श को देखें तो हम पाते हैं कि 20 वीं शताब्दी के विमर्श और 21 वीं शताब्दी के विमर्श में अंतर दिखाई पड़ता है। 21 वीं शताब्दी का सांस्कृतिक विमर्श, व्यापक संस्कृति, भाषा, इतिहास तथा दक्षिण एशिया के साहित्य का विवेचनात्मक मूल्यांकन करने का प्रयास करता है। पिछले कुछ दशकों में यह क्षेत्र भू-राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी विश्व में चर्चा का विषय रहा है। ऐसा उसकी

[41] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 525

(दक्षिण एशिया) संस्कृति के वैश्वीकरण, अर्थ-व्यवस्था के उभार तथा राजनीतिक शक्ति की वजह से हुआ है।

वहीं 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध्द का सांस्कृतिक विमर्श वैज्ञानिक पड़तालों पर आधारित है। जैसे जीत सिंह ओबराय की पुस्तक Science And Culture (1978), आशीष नंदी की पुस्तक - Alternative Science:creativity and authencity in two indian scientist। इन पुस्तकों में आधुनिकता की अवधारणा पर व्यापक चर्चा की गई है, साथ ही पाश्चात्य विज्ञान की तार्किकता पर भी सवाल उठाए गए हैं। आशीष नंदी को दक्षिण एशियाई सांस्कृतिक विमर्श का जनक माना जाता है।

भारत में सांस्कृतिक विमर्श को आगे बढ़ाने में CSDS (The Centre for the Study of Developing Societies) की अग्रणी भूमिका रही है। जिसकी स्थापना 1963 में रजनी कोठारी ने की थी। यह सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी पर आधारित संस्था है। इस संस्था के चुनिंदा लेखकों में रजनी कोठारी, आशीष नंदी तथा डी. एल. सेठ जैसे चिंतक शामिल हैं। इन लेखकों ने संस्कृति के प्रश्न पर पुनर्विचार आरंभ किया तथा राजनीति एवं अर्थ-व्यवस्था के स्तरीकृत वर्गीकरण को संशय की दृष्टि से देखा। आशीष नंदी के लेखन कर्म का मूल स्वर ही ज्ञान की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, यूटोपिया तथा दृष्टिकोण रहा है।

CSDS के अतिरिक्त इस विमर्श को पुख्ता या सुदृढ़ता प्रदान करने में महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विवेकानंद इत्यादि लेखकों का भी अप्रतिम योगदान रहा है। एडवर्ड सईद की कृति-Orientalism (प्राच्यवाद) इस क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुई। उन्होंने इस पुस्तक में सभ्य और असभ्य के भेद पर पूर्व और पश्चिम की अवधारणा पर विचार किया। अंग्रेजों ने यह

वर्गीकरण महाकाव्य, उपन्यास, सामाजिक रीति-रिवाज तथा बुध्दिवाद के आधार पर किया था।

होमी भाभा ने भी अप्रवासी समूहों की स्थिति पर विचार किया था, otherness (भिन्नत्व) की अवधारणा पर तथा अमुक व्यक्ति के अस्तित्व पर उसके प्रभाव को विश्लेषित किया। भाभा सांस्कृतिक भिन्नता को सांस्कृतिक विविधता का एक विकल्प मानते हैं।

दिनकर अपनी इस पुस्तक में संस्कृति के उन्हीं विचारों को चिंतन के केंद्र में रखते हैं जो विचार स्वतंत्रोपरांत नीति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कहा जा रहा है कि Cinema is a new history (सिनेमा नया इतिहास है) भारतीय दृष्टिकोण से यह बात बिल्कुल सही है, जहाँ एक साल में हजारों फिल्में रिलीज होती हों, वहां उसके अप्रत्यक्ष प्रभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। साहित्य की पहुँच जहाँ खत्म होती है, सिनेमा की पहुँच वहीं से शुरू होती है। ऐसे दौर में संस्कृति के मूल उपादानों को जानना बेहद जरूरी हो उठता है। चिकित्सा तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व प्रगति ने अनुभूति की अवधारणा को काफी हद तक प्रभावित किया है। हम व्यक्ति की लोकप्रियता के आधार पर उसकी बातों पर विश्वास करने के आदी हो रहे हैं, जिसकी जितनी ज्यादा लोकप्रियता उसकी उतनी स्वीकृति। दिनकर ऐसे ही लोकप्रिय कवि थे, आज भी बिहार में राजनीतिक भाषण दिनकर की चर्चा किए बिना पूरी नहीं होती, ऐसे रचनाकार की बात ही कुछ और होती है। दिनकर के संस्कृति संबंधी विचार को भी प्रचार के माध्यम से आगे बढ़ाने की जरूरत है। हमें समाजवादी बनाने में लोहिया के विचारों का उतना योगदान नहीं है जितना प्रेमचंद का है। साहित्यकार का प्रभाव सिध्दांतों के बाहर कार्य करता है। दिनकर भी ऐसे ही साहित्यकार थे।

दक्षिण एशियाई संदर्भ में सांस्कृतिक विमर्श के मूल में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, हिंदू-मुस्लिम समस्या, राष्ट्रवाद इसके मूल में रहा है। दिनकर इसकी गलत व्याख्या तथा महिमामंडन दोनों से व्यथित हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता की समस्या भारतवर्ष की सबसे भयानक समस्या है। इन समस्याओं के निराकरण के लिए हमें उसकी जड़ तक जाना होगा, यही दिनकर ने किया है। ऐतिहासिक स्थितियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने इस्लाम की हलाहल धारा को इस एकता की राह में बाधक माना। मिथकों की रचनाशीलता को भी बचाने का प्रयास दिनकर ने खूब किया है। बाजारवाद सबसे पहले मिथकों की ऐतिहासिकता को ही चोट पहुँचाता है। इस खतरे से दिनकर वाकिफ हैं, इसलिए हरेक अध्याय में उन्होंने मिथकों, लोक-प्रचलित मान्यताओं का खूब जिक्र किया है। इन मिथकों के माध्यम से उत्तर-दक्षिण के भेद को भी पाटने का प्रयास किया है। जैसे – "जब अगस्त्य जी को दक्षिण जाने की आज्ञा हुई, उन्होंने शिव जी से कहा कि दक्षिण की भाषा तो मैं जानता नहीं हूँ, फिर वहाँ जाकर मैं करूँगा क्या ? इस पर शिवजी ने अपनी बायीं ओर अगस्त्य को खड़ा किया और दक्षिण की ओर व्याकरणाचार्य पाणिनी को और वे दोनों हाथों से अपने डमरू पर थाप मारने लगे। इससे बायीं थाप से जो शब्द निकले, उनसे तमिल भाषा बनी और दायीं थाप से जो शब्द छिटके, उनसे संस्कृत का निर्माण हुआ।"[42]

इस मिथक का उपयोग दिनकर ने यूँ ही नहीं किया है, दक्षिण से उत्तर का विभेद उस दौर में जोर पकड़ रहा था, भाषा के स्तर पर और संस्कृति के स्तर पर भी। इन मिथकों का इस्तेमाल करते हुए दिनकर ने तमिल और अन्य भारतीय भाषाओं के सह-अस्तित्व को सामने लाने का कार्य किया है। मिथकों की ओर नज़र डाला जाए तो यह हमें आश्चर्य

[42] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन,संस्करण-2010, पृ. सं. 50

में डाल सकता है कि मिथक जैसी धर्मनिरपेक्षता व तटस्थता कहीं देखने को नहीं मिलती। यह भी एक वजह है कि दिनकर ने मिथकों का खूब इस्तेमाल किया है।

दिनकर उन लेखकों से भी क्षुब्ध हैं जो मुस्लिम शासन का महिमामंडन करते नहीं थकते, उन लेखकों को हिंदू समाज के अंदर समस्या तो दिखाई पड़ती है परंतु पठान शासन काल उन्हें लोकतांत्रिक लगता है। इन लेखकों पर दिनकर आक्रोश व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं कि – "आश्चर्य कि पठान शासन काल की इतनी स्पष्ट बुराइयाँ आज के भी मुस्लिम लेखकों को नहीं दिखायी देती और वे बिना किसी हिचकिचाहट के लिखते हैं कि पठान राज्य काल में गैर-मुस्लिम प्रजा को धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता प्राप्त थी, केवल राजनैतिक अधिकार उन्हें पूरे नहीं मिले थे।"[43]

वैचारिक लेखन में धार्मिक भावना आड़े नहीं आना चाहिए, ऐसा करने से विषय की प्रमाणिकता पर भी सवाल उठते हैं। बहुत हद तक मुस्लिम इतिहास लेखन इसकी कैद में रहा है, समकालीन लेखक इस प्रवृत्ति से बाहर निकल पा रहे हैं। इस्लाम धर्म का इतना उत्कृष्ट विवेचन हिंदी प्रदेश में नहीं मिलता, हिंदू-मुस्लिम संबंधों की कड़वाहट के जो भी आधार वर्तमान में हैं, उनका यथोचित व इतिहास सम्मत मूल्यांकन दिनकर ने किया है। हिंदुत्व विमर्श के प्रति जो संशय व संभ्रम की स्थिति इतिहासकारों ने बनाई है, उसको भी तोड़ती है यह पुस्तक।

धर्म-निरपेक्षता पर जो आज बहस चल रही है उसका सूत्र दिनकर मध्यकालीन समाज में ढूँढ़ते हैं। वे लिखते हैं - "भारत की अपनी परंपरा असांप्रदायिक राज्य की परंपरा थी। जैन, बौध्द और वैदिक धर्मावलम्बियों के बीच खटपट यहाँ भी चलती थी, लेकिन इस देश के राजे राज्य की ओर से किसी भी धर्म का दलन नहीं करते थे, न यहाँ

[43] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 272

यह रिवाज था कि राज्य धर्म से भिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों को द्वितीय या तृतीय श्रेणी का नागरिक माना जाय। किंतु मुस्लिम काल में भारत की यह धर्म-निरपेक्ष नीति समाप्त हो गयी।"[44]

यह टिप्पणी अपने आप में महत्वपूर्ण है क्योंकि हिंदू धर्म पर असहिष्णुता और सांप्रदायिक होने का आरोप इतिहासकार लगाते रहे हैं। हिंदू धर्म शुरू से ही प्रजा का धर्म रहा है, परंतु इस्लाम शासक का धर्म रहा है। एक धर्म को प्रदत्त संरक्षण व विशेष सुविधा तथा दूसरे धर्म पर अत्याचार की नीति ने हिंदुओं की घृणा को बढ़ाने का काम किया था। इस्लाम के विरूध्द हिंदुओं की घृणा सांस्कृतिक बहिष्कार के माध्यम से प्रकट हुई, क्योंकि भारत में इस्लाम का आरंभिक इतिहास मार-काट, खूँरेजी, धर्म-परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है।

दिनकर को वे मुस्लिम काफी पसंद हैं जो मुस्लिम अत्याचार की निंदा करते हों, इसलिए दिनकर को दाराशिकोह, जायसी काफी पसंद हैं। दिनकर का कवि रूप कभी उनके संस्कारों से ओझल नहीं हुआ, इसलिए भी कई जगह वे भावुक होकर टिप्पणी करते हैं। जैसे उनका यह दावा करना जो आंशिक रूप से गलत हो सकता है - कि हिंदुओं के ह्रदय में मुसलमानों ने साम्प्रदायिकता की आग पैदा कर दी।

दिनकर इतिहास की कई सांप्रदायिक मान्यताओं से भी प्रमाणपूर्वक पर्दा उठाते हैं जो हिंदू जनमानस के प्रतीकों को सांप्रदायिक ठहराती है। इसी क्रम में वे उन स्थापनाओं को ठुकराते हैं जो शिवाजी को साम्प्रदायिक मानती हो। दिनकर ने लिखा है कि – "अपने सारे जीवन में उन्होंने एक भी मस्जिद लुटवाई हो इसका कोई भी सबूत इतिहास में नहीं है।

[44] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 270,

एक बार लूट के माल में उन्होंने कुरान-शरीफ की प्रति देखी और वे अपने सिपाहियों पर नाराज हो उठे।"[45]

दिनकर ऐसा उध्दरण सामने लाकर इतिहासकारों को वैचारिक सीमा को व्यापक बनाने की भी सलाह देते हैं और इतिहास में अनुश्रुतियों को भी जगह देने की पैरवी करते हैं। हिंदू- मुस्लिम अजनबीपन को मिटाने का काम सूफी कवियों ने किया था और साथ ही इस्लाम के रूप को उसके अन्याय को, उसकी कट्टरता को काफी हद तक भारतीय समाज के भीतर से कम करने का सराहनीय प्रयास भी किया था।

आज के संदर्भ में परंपरा एक शब्द है। साथ ही यह शब्द भ्रामक भी है। क्योंकि इसे मनचाहा अर्थ देकर इसके गलत सही कितने ही प्रकार के उपयोग किये जा सकते हैं। पुरूषोत्तम अग्रवाल का मानना है कि – "समसामयिक संवाद में परंपरा की केंद्रीयता असंदिग्ध है। आज के अनेक सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न और आंदोलन परंपरा से जुड़े हैं। संस्कृति और जातीय अस्मिता एक तरह से परंपरा के पर्यायवाची बन गये हैं। इनके लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं। पिछले पाँच दशकों में विराट माननीय उद्देश्यों की परिभाषाएँ कई बार बदली है, राजनीतिक स्वाधीनता, आर्थिक विकास और सामाजिक समता की मंजिलें पार कर अनेक समुदाय अपनी स्थिति को सांस्कृतिक स्वायत्तता से जोड़ रहे हैं। आज के वैचारिक पर्यावरण में परंपरा (अथवा संस्कृति) तथा जातीय भावना की अवज्ञा संभव नहीं है।"[46]

संस्कृति का राजनीतिकरण अनेक समस्याओं को जन्म देता है। यह प्रक्रिया हम और वे की दूरी बढ़ाती है। स्वाभाविक सहभागिता में विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं और

---

[45] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 250,.

[46] पुरूषोत्तम अग्रवाल, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण -2000, पृ. सं. 38,

अपसंस्कृतियों के उदय के कारण कई सौ वर्षों के पड़ोसी कुछ वर्षों में ही बेगाने हो जाते हैं। अविवेकी इतिहास दृष्टि, विकृत जातीय भावना, झूठी धर्मांधता कई हजार वर्ष पुराने संतुलन को गड़बड़ा देते हैं। इसी तरह की अपसंस्कृति का विकास हिंदी संस्कृति की आत्म-पहचान को लेकर हुई, फलस्वरूप इसे हिंदू संस्कृति का पर्याय मान लिया गया। जैसा कि रणजीत गुहा और पार्थ चटर्जी ने इसे हिंदू राष्ट्रवाद से जोड़ दिया। दिनकर के यहाँ यह संस्कृति हिंदुत्व की संस्कृति के रूप में है और इसका जो आधार है वह वेदांत की राह है। वेदांत हिंदू दर्शन का शब्द जरूर है, लेकिन वह हिंदुत्व नहीं है।

हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के कई स्तर यहाँ रहे हैं। उनमें प्रमुख हैं - धर्म और देश के बीच का अंतर्विरोध, भाषा का प्रश्न और भारत-पाक विभाजन के उपरांत हिंदुओं पर किए गए अत्याचार। दिनकर तो यहाँ तक कहते हैं कि – "हिंदू-मुस्लिम एकता का मार्ग और कोई नहीं, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है।"[47] इसके अलावा भी उन्होंने मुस्लिमों के द्वैध व्यवहार की आलोचना की है। उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि शरीर से तो वे भारतीय हैं, परंतु मन से अभारतीय हैं। व्यक्ति की अनुभूतियों का निर्धारण समकालीन यथार्थ से होता है, उनके सामने मुस्लिम लीग का आंदोलन रहा है, और मुसलमानों द्वारा ऐसे धर्माधारित संगठन का समर्थन उन्हें इस विचार के नजदीक पहुँचाता है।

बौध्द धर्म के व्यापक प्रसार ने संपूर्ण एशिया की आत्मा को एक कर दिया था एवं यह एकता कहीं-न-कहीं, आज भी इस्लामिक धर्म के प्रसार के बावजूद अक्षुण्ण रही है। बाद में सूफियों ने भी इस एकता को पुष्ट करने का काम किया था, ऐसा भी कहा जाने लगा कि भारत में बाद के इस्लाम में जो उदारता आयी, वह ईरान के प्रभाव के कारण। लेकिन इस सूत्र को आगे औरंगजेब ने तोड़ा, बाद में मुस्लिम लीग तथा वहाबी आंदोलन ने।

[47] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 254

साम्राज्यवादी इतिहास लेखकों ने तथा स्कूलों से सम्बद्ध इतिहास लेखन ने इन घटनाओं का विश्लेषण तटस्थ नजरिये से नहीं किया, राष्ट्रवादी इतिहास लेखकों ने जरूर इन विषयों को नए शोध के साथ समृध्द किया।

19 वीं शताब्दी के अंतिम दो दशक भारत के इतिहास लेखन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण थे। जिस तरह 18 वीं शताब्दी के अंत में, मुद्रण प्रणाली तथा प्रकाशनों 'एशियाटिक सोसायटी' की खोजों ने भारत के प्राचीन इतिहास में विश्वव्यापी रूचि पैदा की उसी तरह 19 वीं शताब्दी के उत्तराध्र्द में जर्मन इतिहासकार मैक्स मूलर तथा थियोसोफिकल सोसायटी के प्रचार ने भारत के ऐतिहासिक गौरव को पुनर्रेखांकित कर जनमानस में एक नया उत्साह पैदा किया। इसका असर आधुनिक भारत के इतिहास लेखन पर पड़ा। राष्ट्रवादी इतिहासकारों पर तो इसका प्रभाव जगजाहिर है। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन हिंदुस्तान को आजाद राष्ट्र के रूप में देखना चाहता था। अतः इस नजरिये के लेखक यह मान कर चले कि भारतीय संस्कृति में राष्ट्रीयता का आधार हमेशा से था और इसी आधार को लेकर औपनिवेशिक शासन के खिलाफ सभी का एक हो जाना स्वाभाविक था। दूसरी ओर सांप्रदायिक इतिहास लेखन की धारा थी जो आजाद हिंदुस्तान का सांप्रदायिक आधार पर पुनर्गठन चाहती थी। इस विचारधारा के लेखकों ने धर्म को ही व्यक्ति और राष्ट्र का मूल आधार माना। हाशिम फरीदाबादी इस परंपरा के प्रमुख प्रतिनिधि लेखक थे। दूसरी ओर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने सांस्कृतिक एकता से ज्यादा जोर वर्ग-भेद और शोषण पर दिया तथा इस अंतर्विरोध को नजरअंदाज करने के लिए गाँधीवादी राष्ट्रवाद की तीक्ष्ण आलोचना भी की।

इतिहास का इस्तेमाल फूट डालने के लिए भी किया गया, परंतु गाँधीवादी दृष्टिकोण तथा नए इतिहास लेखन पध्दति ने संस्कृति के सूत्रों को सांस्कृतिक एकता के

निर्माण के लिए आवश्यक माना और उन्होंने उन तत्वों को अपनी लेखनी में स्थान भी दिया जो इन दोनों के बीच के संबंध को सुदृढ़ता प्रदान करे। दिनकर ने तो खान-पान, वेशभूषा, पर्व-त्यौहार तथा साझी विरासत सब पर विचार किया है। जैसे शिवरात्रि के अनुकरण पर शबे–बरात की शुरुआत साथ ही रथयात्रा के अनुकरण पर ताजिये का रिवाज इत्यादि। दिनकर जानते हैं कि प्रतिरोध और समता दोनों का रास्ता सांस्कृतिक रास्ता ही है।

संस्कृति के विषय में प्रमुख बात यह है कि यह जीवन के हर पक्ष में मौजूद है और इसे आर्थिक, राजनीतिक, सैन्य आदि क्षेत्रों से अलग नहीं किया जा सकता है। आज इंटरनेट एक अल्पसंख्यकीय और शिक्षित वर्गों के लिए सांस्कृतिक औजार का काम कर रहा है। फेक न्यूज की रफ्तार तेजी से बढ़ रही है और लोगों को अपने विश्वास में ले रही है। किताबों से दूरी बढ़ती जा रही है, किंडल और ऑडिबल का जमाना आ चुका है। ऐसे दौर में संस्कृति के यथावत् रूप को बचाने की कवायद, इसको विकृति से बचाना होगा।

संघर्ष का जो दूसरा पहलू है वह है धर्म। भारतीय समाज के बारे में कहा जाता है कि भारतीय समाज एक धर्मरहित किंतु अत्यंत धार्मिक समाज है। (A religious society without a religion)। समाज के धार्मिक होने पर भी जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो उसे देशीयता से अलग नहीं कर सकते इसके बावजूद कि संस्कृति का आधार धर्म है, यह संस्कृति एक किस्म की धार्मिकता तो आज भी लिए हुए है, लेकिन उसकी देशीयता आज भारतीय नहीं है, वह अपना स्वरूप खोकर जातीय और प्रादेशिक कहीं अधिक है। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय एकता की राह में बाधक तो है ही साथ ही भारत की उन्नति के लिए भी घातक है, राजनीति के लिए जरूर यह फायदे की चीज है। आज की

परिस्थिति में भारतीयता की भावना विदेश जाने पर ही जागती है, अस्मिता की चुनौती का सामना करने पर ही जागती है।

ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि अस्मिता के आग्रह वास्तव में विदेशी चुनौती के सामने ही प्रकट होते हैं। जैसे भारतेंदु हरिश्चन्द्र जब निज भाषा पर आग्रह दे रहे थे तब उनके सामने अंग्रेजी की चुनौती थी।

'निज भाषा उन्नति अहे सब उन्नति को मूल'

भारत में सांप्रदायिकता एक पुरानी समस्या है, जिससे भारत अभी तक निकल नहीं पाया है। इस सांप्रदायिकता की शुरूआत ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से ही होती है। सांप्रदायिक दंगों का एक लंबा इतिहास रहा है। 20 वीं शताब्दी में कानपुर 1931, राँची 1967, अहमदाबाद 1969, भिवंडी एवं जलगाँव 1970, बनारस 1977, जमशेदपुर 1979, मेरठ 1986-87, भागलपुर 1989 इत्यादि जगहों पर दंगे हुए हैं। इन दंगों के केंद्र में हिंदू और मुस्लिम ही रहे हैं। प्रो. विपिन चन्द्रा के अनुसार " सांप्रदायिकता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार एक धर्म के मानने वाले समूह के सदस्यों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित समान होते हैं।"[48] इन दंगों की पृष्ठभूमि तथा इतिहास को समझने के लिए हमें मध्ययुगीन राज्य और नागरिकों के रिश्ते तथा हिंदू-मुस्लिम प्रजा के अंतर्संबंधों के साथ-साथ राज्य के बुनियादी चरित्र पर भी ध्यान देना होगा।

मध्ययुग में राज्य मुस्लिम शासित था तथा प्रजा जिसमें हिंदुओं की बहुसंख्या थी, के आपसी रिश्तों को समझना भी बेहद जरूरी है। मध्ययुग अथवा मुस्लिम शासन वाले भारतीय इतिहास की अवधि के हिंदू-मुस्लिम संबंधों को निरूपित करते समय

[48] विभूति नारायण राय, सांप्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस, राधाकृष्ण प्रकाशन, सं. 2010, पृ. सं.7,

इतिहासकारों ने अक्सर अतिवाद का सहारा लिया है। एक तरफ मो. यासीन जैसे इतिहासकार हैं जिनके अनुसार मुगलकाल का एक बड़ा दौर हिंदुओं और मुसलमानों के सद्भाव सौहार्द, आपसी प्रेम और सहिष्णुता से भरपूर रहा है। दूसरे अतिवादी इतिहासकारों के अनुसार भारतीय इतिहास का मुस्लिम युग मुसलमानों की ज्यादतियों (मूर्ति-भंजन, बलात धर्मांतरण, जुल्म, लूटपाट और हत्याकांड) तथा असहिष्णुता का पर्यायवाची है। दिनकर इन दोनों अतिवादी छोड़ों से बचते हुए हिंदु और मुस्लिम संबंधों की मनोवैज्ञानिक पड़ताल करते हैं। कालांतर में इन दोनों के बीच संबंधों में आयी कड़वाहट का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं कि – “जब तक मुगल-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर अवस्थित रहा, बहुसंख्यक हिंदू अल्पसंख्यक मुसलमानों की अधीनता में जीते रहे और देश में हिंदू-मुस्लिम संबंध के बारे में वह चिन्ता नहीं उठी, जो उन्नीसवीं सदी के बाद से उठने लगी थी। किंतु जब मुसलमानों के हाथों से सल्तनत निकलने लगी, उनमें एक प्रकार की घबराहट का भाव जगने लगा। पठान और तुर्क न तो अरबी थे, न ईरानी लेकिन मुसलमान मात्र की दृष्टि में अरब और ईरान ही इस्लाम के असली देश थे। भारत के मुसलमान मन से सपना अरब और ईरान का ही देखते थे। हिंदुस्तान उनके शरीर का घर था, आत्मा का घर अरब और ईरान था। सौदा ने अपने मन की यह पीड़ा निःसंकोच भाव से लिख दी है।

“गर हो कशिशे-शाहे-खुरासान तो ‘सौदा’

सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमीं पर।”[49]

दिनकर यहाँ मुसलमानों की मनःस्थिति का विश्लेषण बहुत ही सही तरीके से कर रहे हैं, भारत में मुसलमानों का शासन लगभग 300 साल तक रहा है, और मुस्लिम नवोत्थान के अग्रदूत सर सैयद अहमद खाँ, बाद में मुस्लिम लीग के नेताओं ने इस प्रवृत्ति

[49] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 398,

को मुस्लिम जनता के भीतर बैठाने का प्रयास किया, फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ और यहाँ से काफी तादाद में मुस्लिम जनता पाकिस्तान को अपना राष्ट्र मानने लगी।

दिनकर ने मुसलमानों के बारे में काफी कुछ लिखा है, उनकी अंतर्दृष्टि को भी उन्होंने काफी अच्छे से उभारने का प्रयास किया है। दिनकर ने उनके बारे में लिखते हुए उन्हें तन से भारतीय और मन से ईरानी कहा है। इसका एक कारण यह भी है कि संसार भर के मुसलमान ईरान से अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा पाते थे। आज भी मक्का मदीना उनके लिए देश से भी पवित्र है। इस अंतर्द्वंद्व या द्वैधता पर विचार काफी कम इतिहासकारों ने किया है।

ऊपरी कही गई बात का प्रमाण सैयद वाहिद अली रिजवी के इस कथन में भी मिलता है जो 1889 के भारतीय कांग्रेस अधिवेशन के दल में शामिल थे। उन्होंने लिखा है कि – अगर भारत को अपने सर्वोत्तम रूप में शासन चलाना है तो (इन्फीरियर जातियों द्वारा नहीं) तो प्राचीन शासक वर्ग को शासन सौंप दिया जाना चाहिए तथा यह अनुपात हिंदू के मुकाबले तिगुना होना चाहिए। (...If India is to be represented by her best and not by her inferior races…in accordance with …the past glories of [an]..ancient race, I call upon the Congress to rule, not that there shall be as many Mohamadean as Hindus in the councils, but that there shall always be three times as many Mushalman as Hindu members.)[50]

बाबर ने भी खनवा के युध्द में (1527 में राणा सांगा) के खिलाफ युध्द न कहकर उसे जिहाद कहा था। शाहजहाँ ने नये मंदिरों के निर्माण पर रोक लगा दी थी। हिंदुओं को

[50] Saumya Dey – Islam and 'Syncretism' in Indian History

चेतावनी तथा दंड देने के लिए उनके मंदिरों को नष्ट किया गया। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को मुगलों ने सीमित कर दिया था। शरीयत कानून के अनुसार नीतियाँ बनाई गयी। कोर्ट तथा प्रशासन की भाषा फारसी को सीखने के लिए दबाव डाला गया। फारसी भाषा भी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अधीनता की नीति से संचालित था। अंग्रेजों के आने के बाद उनके सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का रास्ता खुला था।

इस्लाम के बारे में पश्चिमी विद्वानों की राय भी जानना समीचीन रहेगा तभी हम दिनकर की दृष्टि को समन्वित दृष्टि से समझ पाएँगे। वी. एस. नायपॉल ने आउटलुक को दिए हुए एक साक्षात्कार में कहा है कि – 'ईसाईयत ने भारत को उतनी क्षति नहीं पहुँचाई जिस तरह से इस्लाम ने पहुँचाया है।' "Christianity did not damage India the way Islam had."[51]

भारत ने कई मोर्चों पर संघर्ष किया है। हिंदू-मुस्लिम के बीच के इस संघर्ष को भी इसका एक पड़ाव मानना चाहिए, जो अभी भी जारी है। आलोचक, इतिहासकार यह दावा करते हैं कि इस्लाम ने भारतीय संस्कृति को समृध्द करने का काम किया तो हम खानपान, संगीत तथा कविता की बात कर रहे होते हैं। वी. एस. नायपॉल ने यहाँ तक कहा है कि इस्लामिक समाज बहुत हद तक आधुनिक अर्थों में अलोकतांत्रिक है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनका मानना है कि राज्य का निर्माण पैगंबर ने किया है, शासन चलाने के लिए उन्हें कुरान व शरीयत की आवश्यकता होती है।

दिनकर पर यह आरोप लगाया गया है कि वे इस पुस्तक में मुस्लिमों के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं, हो सकता है उनके सामने पश्चिमी प्रतिमान उपस्थित नहीं रहे हों जो ऐसा आरोप लगा रहे हैं। पश्चिम में इस्लाम के बारे में कहा गया है कि – "Islam was a

[51] https://www.outlookindia.com/magazine/story/christianity-didnt-damage-india-like-islam/208406

heresy, a sinister conspiracy against Christianity."[52] इस्लाम एक अधर्म है जो ईसाईयत के खिलाफ एक साजिश के तहत लाया गया है। यह भी सही है कि इस्लाम के प्रति ऐसे विचार ईसाईयत की सांस्कृतिक संरचना का एक हिस्सा है;जो इस्लाम को अधीनस्थ समूह मानता रहा है। एडवर्ड सईद ने – Islam through western eyes में इन आलोचनाओं का जवाब देते हुए लिखते हैं कि – ऐसा विचार इस्लाम की बढ़ती लोकप्रियता तथा ईसाईयों के सामने इस्लाम के बढ़ते प्रभुत्व की वजह से है। इस्लाम की इस स्थिति के लिए वे प्राच्यवादियों की सांस्कृतिक संरचना को दोष देते हैं।

दिनकर ने अपनी इस पुस्तक में इस्लाम को बहुत आदर के साथ याद किया है। आदर का मतलब यह कतई नहीं है कि इस्लाम के दोषों को नजरअंदाज कर दिया जाए, इस्लाम के प्रति जो भारतीय जनमानस की मानसिक संरचना में बदलाव आया, दिनकर उसकी भी पड़ताल करते हैं, क्योंकि संस्कृति, आस्था, परंपरा केवल तथ्यों पर ही आधारित नहीं होते, मानसिक संरचना या विश्वास की एक सामान्य प्रणाली का भी उसमें महत्व होता है। दिनकर विश्वास की इसी प्रणाली के बारे में लिखते हैं – "जब मुस्लिम आक्रमणों के साथ मंदिरों और मूर्तियों पर विपत्ति आई, हिंदुओं का हृदय फट गया और वे इस्लाम से तभी जो भड़के, सो अब तक भड़के हुए हैं।"[53]

दिनकर के इन विचारों से इतिहासकारों को आपत्ति हो सकती है परंतु मनुष्य के इस विश्वास में तो बदलाव नहीं किया जा सकता। दिनकर की यह कृति किसी भी सामान्य मनुष्य या कम पढ़े-लिखे व्यक्ति की ऐतिहासिक समझ को पुष्ट करने का काम कर सकती है। इतिहासकार की जो पेशेवर श्रेणियाँ हैं उनमें विचारधारा का बाहुल्य होता है। तथ्य जो

[52] The western image of Islam, page no. 237 (Encyclopedia survey of Islamic culture. first edition,vol.15, anmol publication

[53] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 237

विचारधारा के खिलाफ जाते हैं उन्हें किंवदंतियाँ या अफवाह कहकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।

दिनकर के रचनाकर्म की पृष्ठभूमि में आधुनिक भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक नवजागरण, स्वाधीनता आंदोलन और स्वाधीन भारत की समस्याएँ हैं। तत्कालीन परिस्थितियाँ तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक बोध ने दिनकर के साहित्य में सांस्कृतिक उदारवाद और राष्ट्रीयता की भावना को आकार दिया। उनका चिंतन भाग्यवाद, सामंतवाद और उपनिवेशवाद विरोधी है। भाग्यवाद तो भारत की सबसे बड़ी दुर्बलता रही है। दिनकर ने मध्यकालीन समाज को निवृत्तिमूलक कहा है। इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने में उन्होंने बुध्द और शंकराचार्य का योगदान माना है। दिनकर परंपरा की अक्षुण्णता के आग्रही रहे हैं। ऐसा उनकी लेखनी से पता चलता है;जैसे बौध्द धर्म के बारे में उनकी राय सतत प्रवाहमान परंपरा को मानने वाले चिन्तक का परिचायक है। उन्होंने कहा है कि – "भारत के लिए बौध्द मत कोई नवीन धर्म नहीं, प्रत्युत, हिंदुत्व का ही बौध्दीकरण मात्र था और यह है भी ठीक, क्योंकि बौध्द भावनाएँ, बौध्द संस्थाएँ और बौध्द विचार, सचमुच ही हिंदू-भावनाओं, हिंदू-संस्थाओं और हिंदू विचारों के बौध्दीकृत रूप मालूम होते हैं।"[54]

यह सही भी है क्योंकि परंपरा का कभी भी एकांगी विकास नहीं होता है। परंपरा कभी शुध्दतावादी रूप अख्तियार नहीं करती, वह कहीं-न-कहीं से प्रभाव जरूर ग्रहण करती है। जैसे बौध्द धर्म में कर्मफलवाद, आवागमन तथा पुनर्जन्म के सिध्दान्त हिंदुत्व के ही सिध्दांत   हैं। भारतीय संस्कृति को मानवता के विकास की दृष्टि से समझने का जो प्रयास किया गया है वह अद्वितीय है। अनुमानतः इसे भारतीय साहित्य में पहला प्रयत्न कहा जा सकता है। नामवर सिंह ने लिखा है कि – "दिनकर भारत के सच्चे लोकतंत्र के

[54] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 128

चिंतक थे। उनकी लिखी किताब संस्कृति के चार अध्याय भारत की सामाजिक संस्कृति का ग्रंथ है न कि हिंदू संस्कृति का।"[55]

1914 से 1991 की अवधि को एरिक हॉब्सबाम ने अतिरेकों का युग माना है। इस अवधि के दौरान ही प्रथम विश्वयुध्द, खिलाफत आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, द्वितीय विश्वयुध्द, भारत छोड़ो आंदोलन, फिलीस्तीन का निर्माण, वियतनाम युध्द, शीत युध्द, भारत-पाक विभाजन, सोवियत संघ का विघटन, सिख-दंगे, इन घटनाओं के मूल में कहीं-न-कहीं जातीय सर्वोत्कृष्टता, राष्ट्रीय सर्वोत्कृष्टता जो किसी रूप में संस्कृति से भी अनुस्यूत है का समावेश रहा है। इन घटनाओं की दखलअंदाजी जीवन के हरेक क्षेत्र में होती है, इन घटनाओं ने हमारे सोचने समझने की प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है। जितने भी अविकसित और विकासशील देश हैं, वे देश आज भी आंतरिक नागरिक युध्द से जूझ रहे हैं, आर्थिक मोर्चे पर ये देश निस्संदेह प्रगति कर रहे हैं परंतु इनकी प्रगति का निर्धारण विकसित देश कर रहे हैं। इसलिए एरिक हॉब्सबाम ने लिखा है- "The history of the backward countries in the nineteenth and twentieth centuries is the history of trying to catch up with the more advanced world by imitating it?"[56] (19 वीं और 20 वीं शताब्दी के पिछड़े हुए देशों का इतिहास विकसित देशों के मॉडल का अनुकरण करने का रहा है।) इस प्रक्रिया के फलस्वरूप दो तीन मॉडल उभरकर आए। धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, फासीवाद, उदारीकृत अर्थव्यवस्था। मॉडलों की इस विविधता के बीच देश की अपनी सांस्कृतिक विरासत को दरकिनार सा कर दिया गया। भारत जैसे देश का इतिहास रहा है कि जागरूकता धर्म व संस्कृति के माध्यम से ही संभव हुई है। गाँधी जी ने भी जागरूकता फैलाने के लिए धर्म का इस्तेमाल

---

[55] https://www.bbc.com/hindi/entertainment/story/2008/09/080922_dinkar_centenary.shtml

[56] Eric Hobsbawn, On History (outside and inside history), abacus publication, पुनर्मुद्रित -1999, पेज सं 27

किया था। यह मेरी समझ है कि जैसे जैसे विकास का ये मॉडल असफल होने लगा, वैसे-वैसे सांप्रदायिकता, उग्र राष्ट्रीयता तथा दूसरों को दोष दिया जाने लगा।

उपनिवेशवादी विमर्श के अंतर्गत हम पर यह भी आरोप लगाया गया कि भारत का कोई संगत इतिहास नहीं है इसलिए नये इतिहास के निर्मिति की कोशिश की जा रही है। अतीत के तथ्यात्मक महत्व के साथ ही प्रतीकात्मक महत्व भी होता है, उसका इस्तेमाल मानवता के विकास के लिए भी किया जा सकता है, साथ ही विशेषीकृत राज्य बनाने के लिए भी, जिसका ध्येय धर्म का इस्तेमाल, शास्त्रों का इस्तेमाल अपने लक्ष्य को न्यायसंगत बताने के लिए करना है। पाकिस्तान का इस्लामिक राष्ट्र होना, अयातुल्ला खुमैनी का इस्लामिक राज्य की अवधारणा के पीछे इतिहास के इसी रूप में इस्तेमाल हुआ है। अतीत का इस्तेमाल वैधता प्रदान करने के लिए भी होता है। अतीत का इस्तेमाल हमारे लक्ष्य को महिमामंडित करने के लिए भी किया जाता है जिससे उस लक्ष्य की उत्सवधर्मिता ही समाप्त हो जाती है। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने सिंधु सभ्यता के अध्ययन का शीर्षक – Five thousand years of Pakistan देखा था। वहीं इतिहास की प्रामाणिक जानकारी के अनुसार पाकिस्तान नाम का अस्तित्व 1923-24 के बाद उभरा था।

पहले के दौर में इतिहास से कुछ नुकसान नहीं पहुँचाया जा सकता था, जैसा नुकसान आण्विक भौतिकी कर सकता था, परंतु अब इतिहास का गलत इस्तमाल कर उसके अध्ययन का इस्तेमाल बम फैक्टरी के रूप में भी किया जा सकता है। जैसा कि इरिक हॉब्सबाम ने लिखा है – “This state of affairs affects us in two ways. We have a responsibility to historical facts in general, and for criticizing the politico-ideological abuse of history in particular. I need

say little about the first of these responsibilities. I would not have to say anything, but for two developments. One is the current fashion for novelists to base their plots on recorded reality rather than inventing them, thus fudging the border between historical facts and fiction; the other is the rise of postmodernist intellectual fashion in universities, particularly in departments of literature and anthropology, which imply that all facts claiming objective existence are simply intellectual constructions in short,that there is no clear difference between fact and fiction. "[57]

(यह मानसिकता हमें दो रूपों में प्रभावित करती है, ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति हमारी कुछ जिम्मेदारी बनती है, साथ ही साथ इतिहास के राजनीतिक विचारधारात्मक इस्तेमाल से उसकी रक्षा का भी। मुझे पहले स्थिति के बारे में ज्यादा कुछ बोलना नहीं है। लेकिन इस दिशा में दो प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही है, पहली प्रवृत्ति जो वर्तमान में उपन्यासकारों का फैशन बन चुका है। जो अपने कथानकों को लिखित रिकार्ड्स के आधार पर ही निरुपित कर रहे हैं। इतिहास को खोजने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, इससे ऐतिहासिक तथ्यों तथा कल्पित कथा की सीमा का अतिक्रमण हो रहा है। दूसरी प्रवृत्ति जो उभरकर सामने आ रही है वह यह है कि उत्तर-आधुनिक बौध्दिक परिवेश में विश्वविद्यालय स्तर पर खासकर, साहित्य तथा नृविज्ञान विभाग के अंतर्गत यह माना जाता है कि जितनी भी वस्तुनिष्ठ चीजें अस्तित्व में हैं सभी बौध्दिक संरचना का हिस्सा है। इससे तथ्य तथा कल्पना के बीच का अंतर धुँधला पड़ रहा है।)

57 Eric Hobsbawm, On History, chapter – 1, reprinted-1999, Abacus publication, page no. 27,

दिनकर इस चिंता से व्यथित नहीं हैं कि उनकी राय से लोगों के बीच किस तरह की प्रतिक्रिया होगी। एक कवि तथा सांस्कृतिक इतिहासकार होने के नाते उन्होंने अपने कर्तव्य का निर्वहन भली भांति किया है। भले ही इतिहासकार की गंभीर शैली का इस्तेमाल उन्होंने इसे लिखते हुए नहीं किया हो, परंतु तटस्थ होकर तथ्यों को सामने रखा है, साथ ही विनम्रता पूर्वक यह भी स्वीकारा है कि मेरी कुछ स्थापनाएँ गलत भी हो सकती हैं।

दिनकर संस्कृति के राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं। जिस राष्ट्रवादी इतिहास-दर्शन का प्रवर्तन रमेशचंद्र दत्त, आर. सी. मजूमदार तथा यदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकारों ने इतिहास के क्षेत्र में किया है। दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय ग्रंथ की रचना स्वाधीनता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में उभरने वाले मूल्यों के संदर्भ में की है। दिनकर ने ,भारत है क्या, उसका अपना क्या है, पराया क्या है, उसके बीच के भेद को पाठकों के सामने रखा है। जैसाकि उन्होंने कहा है आर्यों के स्वभाव में भावुकता थी, अतः भारतीय साहित्य में भावुकता का पुट आया। वहीं सहिष्णुता, अहिंसा, वैराग्य भावना को द्रविड़ भावना से विकसित माना। इन बातों से किसी को इंकार नहीं होगा कि नागरिक समाज को किसी न किसी रूप में इन सारे मूल्यों की आवश्यकता पड़ती है और ये मूल्य ही इंसान को मानवीय अर्थों में पूर्णता प्रदान करती है।

दिनकर ने अंग्रेजी राज्य के समर्थन में उभरी उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि का निरूपण इन शब्दों में किया है – "जब तक भारत गुलाम रहा, अंग्रेज यहीं कहते रहे कि हम भारत में अपने लिए नहीं हैं। असल में हम सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं, वहाँ के लोगों को आपसी मारकाट में पड़ने से बचा रहे हैं। "[58]

[58] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 358

दिनकर ने इस उपनिवेशवादी दृष्टि के खंडन के लिए अमेरिका के प्रसिध्द इतिहासकार बिल ड्यूटाँ की यह पंक्ति उद्धृत की है – "भारत विजय का काम धर्म और सभ्यता के सिध्दांत से नहीं डार्विन और नीत्शे के सिध्दांत से जायज था।"[59]

यूरोपीय विजेता कभी भी भारत की जनता और उसकी मनोभावना के साथ एकाकार न हो सके। सन् 1900 तक ब्रिटिश साम्राज्य 13,000,000 स्क्वायर मील तक पूरे विश्व में फैल चुका था अर्थात् उसके अंतर्गत 370,000,000 मनुष्य रह रहे थे। यह सारी भूमि ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन चुकी थी। उत्तर-उपनिवेशवाद के अंतर्गत उन सामाजिक तथा राजनीतिक कारकों का विश्लेषण किया गया है जिस कारण उपनिवेशवाद की स्थापना हुई और देश उपनिवेश ही रहे। भारत में इसके विभिन्न कारण रहे हैं, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, ब्रिटेन सभी ने सभ्यता के विस्तार के नाम पर हमें उपनिवेश बनाया और बदले में अपनी मानसिकता में ढालते चले गए। राष्ट्रवाद के जो सांस्कृतिक पहलू होते हैं जैसे साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति सभी को अंग्रेजों ने असभ्य कहा और निकृष्ट कोटि में डाल दिया। दिनकर अंग्रेजों के इस अंतर्विरोध को खूब अच्छे से पकड़ते हैं, वे लिखते हैं – "भारत के दूरगामी अतीत पर से पर्दा उठाने का काम अंग्रेजों ने ही आरंभ किया था, किंतु भारत के अतीत पर जब सारा संसार चकित होने लगा, तब अंग्रेज घबराकर ठमक गए।"[60]

भारत के अतीत को जहाँ पे अंग्रेजों ने छोड़ा था,वहां से उठाकर उसे विश्वव्यापी बनाने का काम जर्मनी ने किया था;जैसे शोपेनहावर, गेटे इत्यादि। उपनिवेशवाद की शुरूआत ही सभ्यता के प्रचार तथा असभ्य को सभ्य बनाने की चतुराई भरी नीति से हुआ

---

[59] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 358

[60] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 376

था। शायद यह भी एक वजह है कि उपनिवेशवाद के अध्ययन में संस्कृति का पक्ष समाहित है।

स्वाधीनता हासिल करने के बाद इन देशों के नागरिकों ने उत्तर-औपनिवेशिक पहचान बनाने की कोशिश की जो विभिन्न समूहों के बीच संस्कृति, राष्ट्रीय तथा जातीय अस्मिता, लैंगिक तथा वर्ग अवधारणा के माध्यम से विकसित हुई। रचनात्मकता का ह्रास भी हमें उपनिवेशवाद की श्रेणी में डाल सकता है। भारत जब पूर्ण रूप से ब्रिटिश उपनिवेशवाद का अधीन बना तब उसके समाज व साहित्य की स्थिति काफी जर्जर थी। दिनकर ने इसको लक्ष्य करते हुए लिखा है कि – "आधिभौतिकता की टकराहट से भारत की ऊँघती हुई बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गई और वह इस भाव से अपने घरों के सामान पर नजर दौड़ाने लगी कि जो चीजें लेकर यूरोप भारत आया है वे हमारे घर में हैं या नहीं। भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।"[61]

दिनकर सांस्कृतिक विविधता को सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के विरोध में खड़ा करते हैं। वर्तमान विश्व की कुल आबादी की तीन चौथाई लोगों की जीवन शैली तथा मानसिक संरचना को उपनिवेशवाद के अनुभव ने निर्मित किया है। इस तथ्य से इसके महत्व की स्थापना स्वतः हो जाती है। इस स्थिति को गाँधी जी ने अनुभव किया था, यही वजह रही होगी कि उन्होंने विकास के स्वदेशी मॉडल को अपनाने पर जोर दिया था। इस बात को मैं चिंतन की प्रक्रिया में संज्ञान में आए कुछ तथ्यों के माध्यम से अपनी बात को सुदृढ़ता प्रदान करना चाहूँगा, जिससे यह स्पष्ट हो पाएगा कि सांस्कृतिक वर्चस्व कितना कारगर है। द्वितीय विश्व-युध्द के बाद ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति डावाँडोल हो चुकी थी, वैश्विक राजनीति के स्तर पर अमेरिका के उभार के बाद The great Britain,(द ग्रेट

---

[61] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ. सं. 388

ब्रिटेन) केवल ब्रिटेन रह गया था। लेकिन ब्रिटेन की सांस्कृतिक प्रभुता आज भी कायम है। विश्व के पहले पायदान पर काबिज अखबार फाइनेंशियल टाइम्स, लंदन से प्रकाशित होता है, साप्ताहिक पत्रिका The Economist(द इकोनॉमिस्ट) का विश्व में बोलबाला है। शेक्सपियर, चार्ल्स डिकेन्स को पूरा विश्व पढ़ता है। अंग्रेजी के क्षेत्र में मानक इंग्लिश ब्रिटेन की मानी जाती है। क्रिकेट, टेनिस, बैडमिंटन, सॉसर, टेबल टेनिस के जन्म का श्रेय ब्रिटेन को जाता है। ब्रिटेन के राजनैतिक तथा सैन्य प्रभुत्व को वैधता दिलाने का नाम उसके साहित्यकार करते थे, उसकी संस्कृति करती थी।

20 वीं शताब्दी में वैश्विक शक्ति अमेरिका के हाथों में आ गई, हॉलीवुड की लोकप्रियता बढ़ने लगी, लोगों की जिंदगी से किताबों की संख्या घटने लगी। शेक्सपियर, मिल्टन तब भी पढ़े जाते रहे। अमेरिका यूँ ही नहीं केवल राजनैतिक धाक तथा आर्थिक शक्ति की वजह से 20 वीं सदी का सुपर शक्ति बना प्रत्युत, अमेरिका के लिए यह मार्ग प्रशस्त करने वाला माध्यम भी साहित्य, कला, संगीत, फिल्म तथा लेखन था।

दिनकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। यह जाहिर है कि दिनकर ने यह पुस्तक हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के संदर्भ में लिखी थी। हिंदी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए भारतीय संस्कृति के इतिहास का बोध जरूरी था। भक्ति साहित्य के अध्ययन के लिए तो यह अनिवार्य ही था। रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास इस अपेक्षा को पूरा करने में समर्थ नहीं थे। साहित्येतिहास की इस आवश्यकता को पूरा करती है यह पुस्तक। उर्वशी में एक पंक्ति है –   "चिंतन कर यह जान कि

तेरी क्षण क्षण की चिंता से

दूर – दूर तक के

भविष्य का मनुज जन्म लेता है।"

दिनकर के रचनाकर्म का ध्येय भविष्य की संस्कृति,भविष्य के मनुष्य के बारे में विचार करना है। भारत में नवोत्थान की शुरूआत राजा राम मोहन राय से होती है। वे एक समाज सुधारक नेता थे। दिनकर जी के शब्दों में "उन्होंने जो कुछ किया उसे हम सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का कार्य कह सकते हैं। भारत की राजनैतिक राष्ट्रीयता इसी सांस्कृतिक राष्ट्र का विकसित रूप है।"[62]

राममोहन राय के बाद केशव सेन, दयानंद सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, एनी बेसंट, रामकृष्ण परमहंस तथा अन्य चिंतकों तथा अन्य सुधारकों ने भारतीय नवोत्थान के अनुरूप जो जमीन तैयार की वह बाद में चलकर बहुत उर्वर साबित हुई और उसने हमें स्वामी विवेकानंद जैसे धर्म और संस्कृति के ऐसे प्रणेता से साक्षात्कार कराया, जिसने हम भारतवासियों को गर्व से जीना सिखाया और शिकागो सम्मेलन के माध्यम से विपरीत परिस्थितियों में भी हिंदू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। दिनकर ने इस बात को जोर देकर रेखांकित किया है कि राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आंदोलन चल रहे थे, वे विवेकानंद में आकर चरम सीमा पर परिलक्षित हुए। दिनकर लिखते हैं - "विवेकानंद वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानंद वह समुद्र है जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद और विज्ञान सबके सब समाहित होते हैं।"[63] दिनकर आगे कहते हैं – "हिंदू

[62] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 391

[63] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 391

जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानंद की याद उसी श्रद्धा से करती जाए (जिस श्रध्दा से वह व्यास और वाल्मीकि को याद करती है।) "[64]

दिनकर की कई मान्यताएं श्रुतियों पर आधारित हैं, पर नव्य इतिहासशास्त्र का सुदृढ़ पक्ष श्रुतियों के इतिहास में समावेशन पर जोर देता है। दिनकर ने ब्रह्म-समाज को नए दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। दिनकर लिखते हैं कि – "ब्रह्म समाज के सभी नेता हिंदुत्व की घबराहट के प्रतीक थे। वे हिंदुत्व की रक्षा उसके संपूर्ण रूप में करने से घबराते थे। निदान वे हिंदू धर्म की उन्हीं बातों को ऊपर ला रहे थे, जो बुध्दिवाद की कसौटी पर ठहर सकती थी, जिनका मजाक उड़ाने में ईसाईयों को दुविधा हो सकती थी।"[65]

ब्रह्म समाज ने रक्षापरक लड़ाई लड़ी थी। तिलक के योगदान को उन्होंने स्वतंत्रता की दिशा में और संस्कृति को राजनैतिक कर्म की प्रेरणा की भूमिका में लाने के लिए सराहा है। उन्होंने लिखा है कि – "राष्ट्रीयता के साथ लोगों में एक ओर जहाँ शासन करने वाली जाति के प्रति घृणा जगती हैं, वहाँ स्वदेश के लिए गौरव और अभिमान का उदय भी होता है। राममोहन राय और रानाडे में इस राष्ट्रीयता का केवल गौरव जगा था, उसका अभिमान पक्ष लोकमान्य तिलक में आकर साकार हुआ। तिलक से पूर्व के लोगों एवं उनके आरंभिक समकालीनों में राजनैतिक कर्म की प्रेरणा नहीं थी। यह प्रेरणा भी भारत में तिलक ने जगाई।"[66] अपने सांस्कृतिक उपादानों से लड़ाई व संघर्ष की प्रेरणा देकर तिलक ने इस देश की अपनी परंपरा का ही विस्तार किया था।

अतीत का महिमामंडन भी समाज के लिए घातक हो सकता है। अक्सर ऐसा वर्तमान समय में व्याप्त हिंसा तथा असमानता को छिपाने के लिए किया जाता है। स्वतंत्रता

[64] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 397

[65] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 397

[66] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 401

संघर्ष की अवधि में हिंदू-मुस्लिम के बीच के रिश्ते काफी खराब थे, देश में तमाम जगहों पर दंगे रहे थे, और कई लेखक अतीत की आड़ में संरक्षण खोज रहे थे। वर्तमान से पलायन की यह नीति हिंदी के रोमांटिक भावधारा के लेखकों में कुछ ज्यादा ही विद्यमान थी। दिनकर ऐसा करने से बचते हैं, उन्होंने अतीत का मूल्यांकन बुध्दिवाद की दृष्टि से वर्तमान को ध्यान में रखते हुए किया है। उन्होंने आर्यवाद के सुफल के साथ साथ उसके दुष्परिणाम को भी सामने रखा, निर्णय करने का जिम्मा वे पाठकों के हाथ में सौंपते हैं। पाठक को तय करना है कि क्या सही है या गलत। संस्कृति का निर्माता मनुष्य है, इसलिए मनुष्य की संस्कृति के प्रश्न पर आखिरी मुहर भी मनुष्य की ही लगनी चाहिए न किसी विचारधारा की। औपनिवेशिक शासन की शासन नीति का दुष्परिणाम यह हुआ था कि जातियों में क्रमशः जीवन-शक्ति का ह्रास होने लगा और उनमें जीवन के आनन्द का अभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होने लगा। इस जीवन को आनन्द के साथ दोबारा जोड़ने में हिंदू नवोत्थान का अभूतपूर्व योगदान है। इस योगदान का श्रेय निश्चित रूप से आर्य समाज, स्वामी विवेकानंद सरीखे युग-पुरूष को जाता है।

दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय में क्रमशः हिंदू-संस्कृति के आविर्भाव, प्राचीन हिंदुत्व से विद्रोह, हिंदू संस्कृति और इस्लाम तथा भारतीय संस्कृति पर यूरोप के प्रभाव का, जो विवेचन किया है वह भारतीयता के दृष्टिकोण से संचालित है। विचारधारा का अंश मात्र भी नहीं है वहाँ। इस किताब में दिनकर की पूरी कोशिश यह समझने की रही है कि यह सामासिक संस्कृति किस प्रकार जन्मी और किस प्रक्रिया से बढ़ती आयी है। एक कमी जो दिनकर की इस पुस्तक की कमजोर कड़ी है वह यह कि दिनकर ने भारत के हिमालय और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में चीनी-मंगोल और बौध्द संस्कृति के मिश्रण से उपजी संस्कृति के विवेचन पर ध्यान नहीं दिया है। दिनकर ने ही नहीं, भारतीय संस्कृति का विवेचन करने वाले अन्य विद्वानों ने भी इस पक्ष की उपेक्षा की है। इस प्रकार की

उदासीनता का एक परिणाम यह हुआ है कि इन क्षेत्रों की जनता अपने को भारत की सांस्कृतिक विरासत का अनिवार्य हिस्सा नहीं समझती। अब समय आ गया है कि भारतीय विद्वान भारतीय संस्कृति के इस पक्ष को भी अपने चिंतन का अंग बनाएँ।

दिनकर इतिहास को तटस्थता से देखने वाले वाले रचनाकार हैं। उन्होंने इतिहास को किसी तरफ मोड़ने का प्रयास नहीं किया है, जैसा कि अक्सर विचारधारा के प्रभाव में इतिहासकार करते हैं, इतिहासकार इतिहास प्रस्तुत न कर उपदेश प्रस्तुत करने लग जाते हैं। इतिहास को अतीत का मूल्यांकन माना जाता है, ताकि वह मूल्यांकन वर्तमान को दिशा-निर्देश दे सके और भविष्य को मानवता के हित में लगाया जा सके। इस इतिहास के पीछे दिनकर की यही मंशा रही है।

अतीत से वर्तमान की दूरी को हम अवधि, कालक्रम में बाँटने का प्रयास करते हैं, दिनकर ने इसे चार सोपानों में बाँट दिया है। भारतीय जीवन में सोपानों का अधिक महत्व है। जीवन-मरण के बीच के चरणों की तरह। इतिहास के प्रति यह नजरिया ही भारतीय नजरिया कहा जा सकता है।

सामान्य जनता और इतिहास के विशेषज्ञ, शोधार्थी या इतिहासकार के दृष्टिकोण में काफी अंतर होता है। सामान्य जनता इतिहास में अपने अनुभव के आधार पर उत्तर ढूँढने का प्रयास करती है, लेकिन यह पध्दति इतिहास की अवधारणा के बिलकुल विपरीत है। दिनकर की इस कृति में इन दोनों पध्दतियों का सम्मिश्रण मिलता है।

लोकतांत्रिक पध्दति के विकास के बाद धर्म और राजनीति के गठजोड़ को सिध्दांततः अलग किया गया परंतु व्यावहारिक तौर पर उसका इस्तेमाल राजनीतिक पार्टियों करती आ रही हैं। दिनकर इस संदर्भ में किसी दूसरे लेखक की कृति का उल्लेख

करते हुए लिखते हैं कि – "कल्याण का मार्ग यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रवेश हो राजनीति चाहे कितनी भी मलिन हो, किंतु आज के युग में अधिक से अधिक मनुष्यों से संबंध बनाये रखने का काम वही कर रही है। अतएव, इस युग में राजनीति धर्म की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन बन सकती है। वस्तुतः राजनीति के भीतर जब तक धर्म की स्थापना नहीं होगी, संसार को धार्मिक मूल्यों के लाभ दिखायी नहीं देंगे।"[67]

धर्म की प्रगतिशील भूमिका को महात्मा गाँधी ने भी रेखांकित किया था और दिनकर ने भी किया है। दिनकर ने गाँधी को बहुत मनोयोग से याद किया है। उन्होंने गाँधी को नवोत्थान का राजनैतिक नेता माना है। दिनकर लिखते हैं – "एक प्रकार से देखिये तो जिस नवोत्थान के सांस्कृतिक नेता राममोहन और केशवचंद्र, दयानन्द और एनी बेसंट, रामकृष्ण और विवेकानंद तथा अरविंद और रवींद्र हुए उसके राजनैतिक नेता महात्मा गाँधी ही हो सकते थे।"[68]

20 वीं शताब्दी को राष्ट्रवाद के प्रश्नों के पुनर्चिन्तन के लिए भी जाना जाता है। राष्ट्रवाद के संबंध में चिंतकों के बीच काफी विवाद है। मेरे नजरिये से यह एक आकर्षक अवधारणा है। कहा जाता है राष्ट्रवाद आशा की किरण है।

राष्ट्रवाद की जड़े डर और नफरत में खोजना प्रगतिशील बुध्दिजीवियों की आदत रही है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्र हमें एक दूसरे को प्यार करना सिखाता है, आत्म-त्याग का बेहतरीन उदाहरण है राष्ट्र। बेनेडिक्ट एंडरसन जो राष्ट्रवाद को 'इमैजिन्ड कम्युनिटी' की उपज मानते हैं। वे भी लिखते हैं कि – "Hard to think of anything else on the horizon that can enforce that kind of everyday decent

[67] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2009, पृ. सं. 660
[68] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2009, पृ. सं. 619

behavior."[69] (इस धरती पर इस विकल्प को छोड़कर और कोई विकल्प नहीं दिखता जो इस तरह के संयमित व्यवहार को प्रोत्साहित करे।)

राष्ट्रवादी आंदोलनों की शुरूआत 19 वीं शताब्दी में उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका में हुई। राष्ट्रवाद के बारे में मार्क्सवाद के विचार काफी अच्छे नहीं हैं। परंतु 19 वीं शताब्दी के अंत से लेकर अब तक राष्ट्रवाद की अवधारणा में जो बदलाव आया है, वह किसी भी चिंतक को चुंबक की तरह अपनी ओर खींचता है। पहले दिनकर के विचार को इस संबंध में जान लेना आवश्यक हैं। वे लिखते हैं – "वास्तव में भारतवर्ष में, राष्ट्रीयता भी संस्कृति की कुक्षि से उत्पन्न हुई थी। पहले इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ और लोग इस स्वाभिमान से भरने लगे कि हम अत्यंत प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं तथा यूरोप में आधिभौतिक सुखों का चाहे जैसा भी अम्बार लग गया हो किंतु हम उन मूल्यों के उत्तराधिकारी हैं जिन्हें ऊँची मानवता वरण करती है। इस चेतना के जन्म लेने पर उसी के निष्कर्ष स्वरूप भारत में राजनैतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ।"[70]

भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी के उन्नायक धार्मिक व्यक्ति थे। औपनिवेशक शासनों ने हिंदुत्व के धार्मिक पक्ष पर जो प्रहार किया था, उससे चौंक कर यह देश जगा था। जाहिर है राष्ट्रवाद को मजबूत करने में संस्कृति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। राष्ट्रवाद के प्रश्न पर एक कड़वा सच यह भी है कि यह जब राज्य द्वारा पोषित होने लग जाए तो यह विशेषीकृत समुदाय तक ही सीमित रह जाता है जो दबे, कुचले हैं या हाशिए पर खड़े हैं वे पीछे छूटते चल जाते हैं। राष्ट्रवाद के विचार अपने आप में विशुध्द विचार हैं, शायद यह भी एक वजह है कि राष्ट्र-प्रेम पर कई गीत हैं, परंतु राष्ट्र के प्रति घृणा के भाव से युक्त गीत नहीं के बराबर हैं।

[69] The last polymath (WPW – vol. 51, issue no. 3, 16 Jan, 2016)
[70] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण-2009, पृ. सं. 619

अमेरिका के बारे में तो ऐसा कहा जाता है अगर वहाँ के लोग अमेरिका पर विश्वास न करें, तो वे एक दूसरे की जान लेने में भी न हिचकें। 1890 तक राष्ट्र की अवधारणा में सरकार का जुड़ाव नहीं था। कलांतर में जैसे जैसे राष्ट्रवाद को राज्य द्वारा थोपा जाने लगा, वैसे-वैसे राष्ट्रवाद के विचारों के प्रति पूरे विश्व में बदलाव की प्रक्रिया शुरू होती है। यूरोप में तो ऐसा हो रहा है। उदाहरण के लिए जर्मनी और फ्रांस।

एशिया के अधिकांश देश बहुजातीय और बहु-सांस्कृतिक हैं। निश्चय ही धार्मिक और सामुदायिक कट्टरवाद, लैंगिक अन्याय और सामाजिक भेदभाव सभी एशियाई देशों में कमोबेश अस्तित्व में है। हम यह भी जानते हैं कि एशियाई देशों में धर्म का मामला बेहद संवेदनशील है। भारत, चीन, पाकिस्तान और जापान में धर्म की अलग अलग भूमिका है। धर्म ने इधर के कुछ दशकों में संस्कृति की व्यापक क्षति की है। वह राजनीतिक अपराधों का आश्रय स्थल बना है।

धर्म एक समय दुनिया भर में उत्पीड़ित समुदायों के संघर्ष का हथियार था। गौतम बुध्द के उदहारण को ही लें तो हम देखते हैं कि उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों का विरोध कर विश्व को मानवता का एक नया संदेश दिया था। उन्होंने धर्म की व्याख्या मानवतावादी दृष्टिकोण से की थी। दिनकर ने भी धर्म के मानवीय पहलू व उसकी भारतीय समाज में प्रभावोत्पादकता को रेखांकित किया है।

दिनकर स्मृति-ध्वंस के शिकार हो अपने आधुनिक गौरव को भूलने से रोकने की कोशिश करते हैं, इसी कड़ी में वे राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, राधाकृष्णन और सर मोहम्मद इकबाल तक की एक लम्बी श्रृंखला का जिक्र करते हैं। ऊपर जिन चिंतकों के नाम हैं उन सभी की एक सामूहिक विशेषता है, वह यह है कि उन्होंने धर्म को गंभीरता से ग्रहण किया है। धर्म को जीवन का

स्वभाव मान लिया है। धर्म को ज्ञान और विश्वास से अधिक कर्म और आचरण में बसाया है। दिनकर इस पूरे दौर को सांस्कृतिक महाजागरण का दौर मानते हैं।

दिनकर इकबाल के समकालीन भी रहे थे। उन्होंने इकबाल के कवि रूप की प्रशंसा भी की है,परंतु साहित्येतर छवि को उन्होंने आलोचना का विषय भी बनाया है। उन्होंने इकबाल की तुलना नीत्शे से की थी। दिनकर लिखते हैं कि – "नीत्शे के समान इकबाल भी जीव-दया और अहिंसा सिखाने वाले दर्शनों के विरूध्द हो गये और इस्लाम में उन्होंने जो संशोधन किया, उससे जिहाद की कल्पना सार्थक दिखने लगी।"[71]

इकबाल पाकिस्तान के पैरोकार थे। एक संवेदनशील रचनाकार जो मनुष्य से बढ़कर धर्म का पैरोकार था। इकबाल के पहले हिंदुओं से अलग होकर मुसलमानी राज बसाने की मांग करने में मुसलमानों को जो संकोच होता था, इकबाल के बाद वह जाता रहा। इकबाल ने जिस राष्ट्रीयता का आख्यान किया, वह भारत की राष्ट्रीयता नहीं, भारतीय मुसलमानों की भी राष्ट्रीयता नहीं, विश्व भर के मुसलमानों की राष्ट्रीयता थी। इकबाल धर्म पर आधारित एक वैश्विक संगठन खड़ा करना चाहते थे। इकबाल ने उनके भीतर यह भाव जगाया कि वे और कुछ होने से पहले मुसलमान हैं। दिनकर लिखते हैं कि – "यही भाव मुसलमानों को उन देशों में अप्रसन्न रखता है, जिन देशों में मुसलमानों का राज्य नहीं है अथवा जिन देशों में वे अल्पसंख्यक हैं।"[72]

दिनकर यहीं नहीं रूकते वे आगे काफी कुछ लिखते हैं वे कहते हैं कि अपने अनुयायियों पर जैसा कठिन नियंत्रण इस्लाम का है, वैसा और किसी धर्म का नहीं। मुसलमानों में भावात्मक एकता होती है। दिनकर किताब की समाप्ति तक आते आते

[71] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं. 2009, पृ. सं. 695
[72] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं. 2009, पृ. सं. 705

हिंदू-मुस्लिम एकता की राह भी दिखा जाते हैं। हिंदू-मुस्लिम समस्या के समाधान स्वरूप वे लिखते हैं कि – "मुसलमानों के भीतर इस भाव को पुष्ट करना कि भारत उनका देश है और भारत के लिए उन्हें उसी प्रकार जीना और मरना चाहिये जिस प्रकार अन्य देशों के लोग अपने देश के लिए जीने मरने में आगा-पीछा नहीं करते हैं। यह समाधान है मुसलमानों के हृदय की उस शंका को निर्मूल कर देना, जिससे वे हिंदुओं के बहुमत से भय खाते हैं। इस समाधान का स्वभावतः एक दूसरा पक्ष भी है जिसका संबंध हिंदुओं से है। जब तक हम अपने इतिहास के दग्ध अंश को नहीं भूलते, हम मुसलमानों को सहज दृष्टि से देखने में असमर्थ रहेंगे।"[73]

आधुनिक इतिहास में दो ऐसे मौके आए हैं जहाँ मुसलमान भाईयों ने कंधे से कंधा मिलाया था और एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हुए थे। 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और 1921 का असहयोग आंदोलन। इतना जरूर था इन आंदोलनों में भी मुस्लिमों का हित जुड़ा हुआ था। दिनकर ने स्मिथ का उल्लेख करते हुए मुसलमानों पर तंज भी कसा है। दिनकर लिखते हैं-"स्मिथ ने सत्य ही लिखा है कि जब बशीर अहमद को ठगता है तब अहमद सोचता है कि बशीर ठग है। किंतु, जब मोतीलाल अहमद को धोखा देता है, तब अहमद समझने लगता है कि हिंदू धोखेबाज हैं।"[74]

दिनकर कई जगहों पर ऐसा संकेत दे जाते हैं कि उनका हिंदू धर्म जाग उठा है और वे हिंदुओं की पैरवी कर रहे हैं मगर वे शत-प्रतिशत सही लिख रहे हैं - "जब एक जाति, भयानक रूप से, सांप्रदायिक हो उठती है तब दूसरी जाति भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने लगती है और उसके भी भाव शुध्द नहीं रह जाते। अच्छे से अच्छे हिंदू को भी यदि वर्षों तक यह समझाया जाय कि मुसलमान तुम से घृणा करते हैं, तो इस जहरीले आघात

[73] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं. 2009, पृ. सं. 710

[74] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं. 2009, पृ. सं. 714

से वह अविचलित नहीं रह सकता। हिंदुओं में सांप्रदायिकता की वृध्दि इसी प्रकार हुई है।"[75]

इसमें कोई दो राय नहीं कि इस विश्लेषण में एक आम भारतीय नागरिक की समझ प्रभावी है, पर एक लेखक को इस सरलीकरण से बचना चाहिए, लेकिन दिनकर को इतनी छूट दी जा सकती है वे हिंदुस्तान की अस्मिता के कवि हैं। यह एक सामान्य मध्यवर्गीय मानसिकता है। संस्कृति का प्रश्न मुख्यतः मध्यवर्गीय प्रश्न है। मध्यवर्ग को ही संस्कृति की ज्यादा चिंता होती है और अंधानुकरण में भी वहीं सबसे आगे होता है। कहा जाता है, वैश्वीकरण ने मध्यवर्ग का आकार बढ़ा दिया है, उसके सपने ऊँचे कर दिए हैं। नए नए टेक्नोलॉजी प्रतिष्ठान इस बात की वकालत कर रहे हैं कि व्यक्ति स्वाधीनता पर आधारित संस्कृति ही श्रेष्ठ है।

वैश्वीकरण और उदारीकरण के युग में यह भी जाँचा जाना चाहिए कि पश्चिम के देशों का विश्वबोध कितना उन्नत हुआ है या वहां की नीतियों में कितनी उदारता है। हम वर्तमान उदाहरणों के माध्यम से समझ सकते हैं कि विश्व वैश्वीकरण से वापस संरक्षणवाद की तरफ बढ़ रहा है, अप्रवासियों पर हिंसा में वृध्दि हुई है, ये किस तरह की संस्कृति है, इस पर भी पुनर्विचार की जरूरत है। दुनिया का बाजार जरूर मुक्त हुआ है, पर विश्व की मानसकिता में अभी भी कहीं ना कहीं उग्र राष्ट्रवादी पूर्वाग्रह है।

विश्व की संस्कृति को एक बड़े खतरे का सामना अभी भी करना पड़ रहा है, वह है उपभोक्तावाद। उपभोक्तावाद बड़ी-तेजी से मूल्य-संस्कृति को आस्वाद की संस्कृति में बदल रही है। वह आदमी को एक कृत्रिम और छिछली जिंदगी जीने के लिए बाध्य कर रहा है। पूँजीवाद ने परंपरागत अवधारणा तथा हमारी समझ को प्रभावित किया है।

---

[75] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, सं. 2009. पृ. सं. 715

दिनकर उपनिवेशी दृष्टिकोण से अलग हटकर सांस्कृतिक विविधता या यों कहें कि सामासिक संस्कृति को सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के विरोध में खड़ा करते हैं। जिस सभ्यता के विस्तार के नाम पर देशों को उपनिवेश बनाया जा रहा था, उन देशों को दिनकर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि हम कितने सभ्य थे साथ ही सभ्यता की इस यात्रा का ब्यौरा भी प्रस्तुत करती है यह पुस्तक। अतीत की स्वायत्तता को दिनकर ने कहीं भी प्रभावित नहीं किया है उसे अक्षुण्ण रखते हुए भारतीय दृष्टिकोण से उसे समझने का प्रयास किया है। समझने की, विश्लेषण की यह तटस्थ प्रक्रिया दिनकर की प्रामाणिकता का प्रमाण है।

हम उत्तर-आधुनिक समाज में जी रहे हैं। इस समाज में भी परंपरा के पास भावनात्मक अपील है। यह सत्ता दिलाने में मददगार तो है ही साथ ही लोगों को संगठित व गलत करने से रोकने में भी कारगर है। डोनाल्ड ट्रम्प अमेरिका फर्स्ट की नीति की घोषणा करते हैं और राष्ट्रपति बन जाते हैं, हमारे यहाँ तो परंपरा का इस्तेमाल हरेक चुनाव में होता है। मंदिर, मस्जिद हमेशा से राजनीतिक कैम्पेन के ज्वलंत मुद्दे रहे हैं। आज भी अखबारों में हम हेरीटज, विरासत (Legacy) जैसे शब्दों का बेधड़क प्रयोग देखते हैं। संसद निष्क्रिय पड़ा हो तो संसद की परंपरा की दुहाई हम देते हैं।

संस्कृति की इस यात्रा में अब समलैंगिकता, बच्चे, स्त्री भी शामिल हैं। दिनकर जिस वक्त लिख रहे थे, वह वक्त, इन समस्याओं के प्रति उतना जागरूक नहीं था। संस्कृति की इस यात्रा में, विरासत के नाम पर नौनिहालों के लिए एक समृध्द विरासत हमारे पास है। अमेरिका के स्कूलों में बच्चे आए दिन रिवाल्वर से हत्याएँ कर रहे हैं। उस संस्कृति का असर भारत पर भी पड़ा है। आए दिन महानगरों में पॉश स्कूल के बच्चे साजिश करके अपने ही साथी की हत्या कर रहे हैं। हमने उनके लिए हितोपदेश और पंचतंत्र की लंबी

विरासत छोड़ी है। फिर ये दुष्प्रभाव क्यों ? इस तरह की मनोवृत्ति को बढ़ावा देने में आधुनिक बाजार का हाथ भी है।

दिनकर हिंदुत्व की समृध्द विरासत को सामने लाते हुए हमें यह सीख दे जाते हैं कि धर्म जिंदगी की तकलीफें सहने की ताकत देता है, धर्म स्वभावतः प्रगतिशील होता है। इतिहास की चिंता उसी को हो सकती है, जिसे अपने देश और विश्व के भविष्य की चिंता हो। इतिहास स्थिर चीज नहीं है और न यह विज्ञान है, पर यह मिथ्या चेतना भी नहीं है। दिनकर ने यह पुस्तक लिखकर सांस्कृतिक परिवेश में एक हलचल ला दिया था।

दिनकर हिंदी पट्टी के मानस में जितनी जगह घेरते हैं, उतनी जगह हिंदी साहित्य के इतिहास की किताबों में नहीं घेरते। हिंदी आलोचना और गंभीर साहित्यिक बहसों से भी उन्हें एक तरह से बाहर रखा गया। इसकी मूल वजह यह रही है कि उन्होंने मूल्यांकन से परे किसी को नहीं माना और उन्होंने मुस्लिम शासन की आलोचना भी खूब की है जो स्वयंभू वामपंथ के झंडेबरदारों के लिए नागवार गुजरा फलस्वरूप उन्होंने दिनकर की भूमिका को सीमित करने का प्रयास किया।

दिनकर के साहित्य में भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता की भावना अनेक अर्थ-छवियों के साथ सदैव मौजूद रही है। उनका सांस्कृतिक अध्ययन ऐतिहासिक प्रामाणिकता की रक्षा करते हुए उन तत्त्वों पर बल देता है, जो देश की जनता को उद्बुद्ध, विवेकवान और क्रियाशील बनाने में सहायक हो। उनकी कामना भारतीय संस्कृति के सामासिक, उदार और मानवीय पक्ष को जन साधारण तक संप्रेषित करने की रही है।

दिनकर ने भारतीय संस्कृति के मूल उपादानों का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करने के क्रम में इतिहास और संस्कृति पर गंभीर चिंतन के बावजूद साहित्यिकता की रक्षा

का हर संभव प्रयत्न किया है। दिनकर की दृष्टि में भारतीय संस्कृति में सामासिकता, उदारता और सहिष्णुता ऐसे सूत्र हैं, जिनके माध्यम से भारत के अतीत और वर्तमान की आंतरिक बुनावट की पहचान करते हुए राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ और विकसित किया जा सकता है। दिनकर द्वारा प्रतिपादित सामासिक संस्कृति का वही अर्थ है जिसे अनेक विद्वानों ने संगम संस्कृति, मिली-जुली संस्कृति या गंगा-जमुनी तहजीब कहा है। दिनकर ने सामासिक संस्कृति की बात करते हुए भारतीय समाज में सांस्कृतिक बहुरूपता और विशिष्टता के प्रति आदर का भाव रखा है।

भारतीय जीवन शैली, सांस्कृतिक विरासत, धार्मिक विश्वास, भाषा, साहित्य, कला, संगीत, रीति-रिवाज, खान-पान, चिंतन शैली आदि में अनेक विविधताएँ हैं। इन विविधताओं का इस्तेमाल कर ही एकता के मार्ग को और पुष्ट किया जा सकता है। 19 वीं, 20 वीं शताब्दी के सामाजिक सांस्कृतिक नवजागरण को दिनकर ने अनेक अर्थछवियों के साथ अभिव्यक्त किया है। यह भूमि भी नितांत भारतीय है, जिसमें यूरोप के विज्ञान का भी योगदान है।

दिनकर ने संस्कृति के अध्ययन से न केवल पूरे देश की एकता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, प्रत्युत उसके प्रसुप्त आत्मविश्वास और स्वाधीन चिंतन को जाग्रत करने का उल्लेखनीय कार्य भी किया है। अपने परंपरागत धर्म और उसकी विभिन्न प्रथाओं से बँधे हिंदी के बड़े-बड़े लेखक धर्म के क्षेत्र में किसी नए सृजनात्मक विचार को ग्रहण करने में असमर्थ रहे हैं। लेकिन दिनकर समय के साथ चलने वाले कवि थे, उनके धार्मिक विचार काफी प्रगतिशील हैं, दिनकर के सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का आधार धर्म ही है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रादुर्भाव के बाद जिस तरह धर्म को सामान्य जीवन से बाहर का रास्ता दिखाया जाने लगा, उससे समाज के भीतर कई प्रतिक्रियाएँ हुईं। धर्म अपने को

संगठित करना जानता है, पर हिंदू धर्म के भीतर यह संगठन धार्मिक सुधार से प्रभावित रहे हैं।

अंत में लेखकीय निवेदन से इस अध्याय की समाप्ति की ओर बढ़ना चाहूँगा। दिनकर लेखकीय निवेदन में लिखते हैं – "संस्कृति का विषय अपार है। एक व्यक्ति के लिए यह संभव ही नहीं है कि अपने सारे जीवन में भी वह इसके साथ पूरा न्याय कर सके। मैंने जो इस काम में हाथ डाला है वह इस कारण से नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लगाए जा रहे हैं, किंतु जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का प्रायः अभाव है, जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आयी है और आगे वह कौन सा रूप ले सकती है।"[76]

दिनकर के सामने संस्कृति का जो रूप है, उनकी अपनी जो अवधारणा है वह संस्कृति के प्रगतिशील रूप की रक्षा का है। जीवन के हरेक क्षेत्र में संस्कृति का समावेश है। भारत का जो रूप है, उसका जो वेग है, उसमें राष्ट्रवाद, धर्म का सहज प्रवेश है। अतः इन मुद्दों पर बार-बार विचार होना चाहिए, अगर इन मुद्दो पर विचार विमर्श के रास्ते बंद होते हैं तो हम पश्चाताप ही करते रह जाएँगे। संस्कृति के चार अध्याय इतिहास नहीं है, लेकिन जिस तरह से उन्होंने राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक क्रांतियों को परखा है, वह पुनर्पाठ के लिए पुख्ता जमीन तैयार करती है।

[76] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 2009

अध्याय 5- दिनकर की सांस्कृतिक चेतना

विश्व में हम तीन तरह की संस्कृति एक साथ पाते हैं जिसे रेमंड विलियम्स ने तीन हिस्सों में वर्गीकृत किया है- **1.** प्रभुत्वशाली संस्कृति **2.**प्रतिरोध की संस्कृति **3.** एक तीसरी धारा रही है जिसे विलियम्स उभरती हुई संस्कृति से संज्ञापित करते हैं। भारतीय संदर्भ में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-प्रभुत्वशाली संस्कृति के उदहारण के तौर पर, वैदिक संस्कृति को देखा जा सकता है, वहीं प्रतिरोध की संस्कृति के रूप में बुद्ध, महावीर द्वारा प्रस्तुत संस्कृति को देखा जा सकता है। वहीं उभरती हुई संस्कृति के उदाहरण के तौर पर गांधी, टैगोर आदि को रखा जा सकता है। यह जो तीसरी धारा है वह सोचने की नई प्रणाली पर बल देती है, दिनकर का सम्बन्ध भी इसी धारा से है।

दिनकर ने समूचे भारतीय इतिहास में समावेशीकरण और एकीकरण की लगातार चलने वाली प्रक्रिया पर बल दिया है, इसलिए भी वे एक सामाजिक इतिहासकार हैं। 1947 की जो विरासत रही है और उसके उपरांत अगले कुछ वर्षों तक समुदाय विशेष का जिस लिहाज़ से राजनीतिकरण हुआ है, वह बहुत ही ख़तरनाक है। हम 1950 के बाद की लेखनी में पाते हैं कि किस तरह हार्दिक रिश्तों पर ध्यान देना शुरू किया जाता है और सामाजिक और सांस्कृतिक मिलन की प्रक्रिया को उजागर किया जाता है। उसी कड़ी का यह महत्वपूर्ण पड़ाव है संस्कृति के चार अध्याय। दिनकर की सांस्कृतिक दृष्टि के मूल में श्रम का मूल्य है, परंपरा की अनवरतता के प्रति विश्वास व श्रद्धा है। जिस सामान्य संस्कृति की बात रेमण्ड विलियम्स करते हैं, संस्कृति के उसी स्वरूप की तरफ़ दिनकर का भी ध्यान है।

दरअसल सामाजिक बदलाव केवल बहस और विश्लेषण का ही विषय नहीं होता है, भावनाओं की भी उसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वो भावना दिनकर के यहाँ मौजूद है, इतिहास के निर्माण में जातीय स्मृति, लोकप्रिय कहानियाँ तथा मिथकों का भी योगदान होता है। इतिहास के मूल्यांकन का यही मार्ग चुना है दिनकर ने; जो अपने आप में विचारधारा केंद्रित इतिहास लेखन

के सामने चुनौती प्रस्तुत करती है। ऐसा नहीं है कि दिनकर अवधारणात्मक इतिहास लेखन के ख़िलाफ़ थे, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दिनकर पहले साहित्यकार हैं, इसी नाते वे जनता से और अधिक गहराई से जुड़े हुए थे। संभवतःयह भी एक कारण है कि उन्होंने इतिहास लेखन की पारंपरिक पद्धति को चुनौती देते हुए; इतिहास को किरायेदार की हैसियत से अपने घर में प्रवेश दिया है।

दिनकर की सांस्कृतिक चेतना का निर्धारण किसी एक कृति के आधार पर नहीं किया जा सकता है; उनके समूचे साहित्य के अवलोकन के आधार पर ही उनकी चेतना का मूल्यांकन किया जा सकता है; जितना सम्भव हो सका है मैंने उनकी रचनाओं के पास जाने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं के मूल्यांकन के उपरांत हम पाते हैं कि दिनकर की सांस्कृतिक दृष्टि किसी भी तरह के पूर्वाग्रह से मुक्त थी, उनकी यही दृष्टि इतिहासकारों के विचारधारात्मक आग्रह को भेदते हुए काफ़ी आगे निकल जाती है। साहित्य और इतिहास के बीच विभेद इसलिए भी है, क्योंकि दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। अरस्तू तो कविता की तुलना इतिहास से करते हैं और लिखते हैं कि कविता इतिहास के मुक़ाबले अधिक गम्भीर और दार्शनिक विधा है। सभ्यता के इतिहास में कविता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसकी प्रामाणिकता हर युग में बरक़रार रही है, यहाँ तक कि उत्तर आधुनिक परिवेश में इतिहास के अंत की घोषणा की जाती है, परंतु कविता के भविष्य पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जाता है।

दिनकर की काव्य चेतना के सम्बन्ध में काफ़ी कुछ कहा गया है। उनकीदिनकर) (कीभारतीय संस्कृति में अगाध श्रद्धा है। इसका कारण केवल स्वाधीनता संघर्ष ही नहीं है, अपितु औपनिवेशिक स्थिति से उपजी हुई शून्यता भी है। गांधीवाद, बुद्धिवाद, विवेकानंद के प्रति कवि की पूर्ण आस्था है। धर्म, विज्ञान और संस्कृति के समन्वय में कवि को विश्वास है, इसलिए कवि परशुराम की प्रतीक्षा में कहता है-

“ विज्ञान धर्म के धड़ से भिन्न ना होगा,

भविष्य भूत गौरव से छिन्न न होगा।”[77]

जातीय एकता का प्रश्न उनके चिंतन के मूल में रहा है ;यह प्रश्न उनके लिए सबसे ऊपर था। संस्कृति के चार अध्याय का पूरा का पूरा विमर्श ही जातीय एकता पर केंद्रित है। अन्यत्र भी कवि जातीय एकता की बात करता है ;इसी भावभूमि से जुड़ी उनकी एक कविता द्रष्टव्य है-

और यह बात याद रहे

कि परंपरा चीनी नहीं, मधु है।

वह ना तो हिंदू है,ना मुस्लिम है,

न द्रविड़ हैन आर्य है,

न परंपरा हर प्रहरी

पुरी का शंकराचार्य है।”[78]

आज के दौर में संस्कृति शब्द को केवल साहित्य तक सीमित करना संभव नहीं है। इस शब्द का प्रवेश ज्ञान की सभी शाखाओं के भीतर है ;इसलिए केवल साहित्य के दृष्टिकोण से ही इस शब्द पर विचार नहीं किया जा सकता है।

दिनकर जिस युग में अपनी कलम चला रहे थे, वह दौर उपनिवेशवाद के विरोध का युग है;उपनिवेश को समाप्त करने में जो उत्प्रेरक तत्त्व रहे हैं वे हैं – प्रतिरोध ,राष्ट्रवाद, अतीत का अवलोकन ,सांस्कृतिक प्रतीकों की पुनः व्याख्या,दिनकर की रचनाओं में यह सब हमें मिलता है।

---

[77] रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण द्वितीय 1965, पृष्ठ सं 19

[78]http://kavitakosh.org/kk/परंपरा_/_रामधारी_सिंह_%22%दिनकर22

भारत की एकता किसी एक राजनीतिक प्रणाली के बजाय सांस्कृतिक प्रतीकों और आध्यात्मिक मूल्यों के व्यापक प्रसार पर निर्भर रही है। यही वजह है कि भक्ति आंदोलन का इतना प्रसार हुआ ,उसकी स्वीकार्यता चारों ओर हुई ,कालांतर में गांधी जी ने भी इन्हीं मूल्यों तथा प्रतीकों का अवलंब लेते हुए, पूरे देश की यात्रा की और उन सांस्कृतिक व आध्यात्मिक मूल्यों को टटोलने का काम किया। दिनकर यही काम हिंदी प्रदेश के भीतर कर रहे थे, उनकी सांस्कृतिक चेतना में भविष्य सम्बन्धी चिंतन है, उसकी पृष्ठभूमि में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य है, जो दिनकर को सभ्यता ,संस्कृति ,परंपरा के प्रश्न पर पुनर्विचार करने के लिए झकझोड़ती है।

भविष्य चिंतन से वह नैतिकता उपलब्ध होती है ,जिसके जरिये इस समस्या के उत्तरदायित्व में भागीदार बनते हुए समकालीन चेतना के धरातल पर उसके खिलाफ़ संघर्ष की परंपरा को निर्देशित किया जा सके। यह देश परिवर्तन की अनेकों प्रक्रिया से गुजरा है ,लेकिन उस प्रक्रिया ने भारतीयता के सार को कभी क्षति नहीं पहुंचायी। कारण स्पष्ट हैं- वह धार्मिक वैमनस्य पर आधारित नहीं था। हिंदू- मुस्लिम धर्म के आधार पर राष्ट्र के विभाजन ने बहुत हद तक भारतीयता के सार को क्षति पहुंचाई, इसने केवल आपसी भेद को ही नहीं बढ़ाया अपितु इसका दूरगामी प्रभाव ये हुआ कि इसने भारतीयता की व्यापक अवधारणा पर ही आघात किया। महात्मा गांधी द्वारा देश के विभाजन के विरोध की यह भी एक वजह थी। गांधी के विचारों की हत्या तो इस देश ने विभाजन के पूर्व ही कर दी थी, शारीरिक हत्या बाद में की गयी। गांधी इसके दूरगामी प्रभावों को महसूस कर रहे थे, पर राजनेताओं ने उनके विचारों को रंगमंच से ही बाहर करने का काम किया, गांधी इस धरती पे थोड़ा और ठहरे होते तो शायद परिस्थितियाँ कुछ और होतीं।

मानव की एक स्पष्ट परिकल्पना साहित्य में अंतर्निहित होती है। संस्कृति द्वारा परिभाषित मानव जीवन के उद्देश्य तथा उसकी उपलब्धि के व्यक्तिगत और सामूहिक साधन भी साहित्य में अभिव्यक्ति पाते हैं। दिनकर ने जिस दौर में यह पुस्तक लिखी, वह देश के पुनर्निर्माण का, देश को

फिर से भारतीयता के भाव में पिरोने का, सौहार्द कायम करने का तथा अल्पसंख्यकों को विश्वास दिलाते हुए उन्हें भारत में सम्मान और आदर देने का दौर था।

दिनकर राष्ट्रीय भावधारा से ओतप्रोत रचनाकार हैं, राष्ट्रीय भावधारा के भीतर कई और भी धाराएँ हैं, जैसे पुनरुत्थानवादी धारा जिसके प्रतिनिधि कवि हैं -मैथिलीशरण गुप्त, जिन्हें दिनकर ने पुनरुत्थानवादी कवि माना है। दिनकर की सांस्कृतिक चेतना भावुकता से ओतप्रोत रही है ;कई बार वे गांधीवाद के प्रति शंकालु भी हुए हैं। हिमालय कविता की ये पंक्तियां इस बात की पुष्टि करती हैं-

"रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दो उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।"[79]

इस कविता में भगत सिंह ,चंद्रशेखर आदि क्रांतिकारी कवियों के प्रति सहानुभूति भी है और गांधीवाद के प्रति अविश्वास भी।

दिनकर इतिहास चेतना के साथ चलने वाले कवि हैं, उनकी चेतना के निर्माण में इतिहास की समझ है, वर्ग संघर्ष के अंतर्विरोध हैं। उनकी समावेशी सांस्कृतिक दृष्टि का ही सुगठित परिणाम है संस्कृति के चार अध्याय।- दिनकर के काव्य में एक ओर परंपरा के प्रति सम्मान है तो दूसरी ओर अपने युग परिवेश के प्रति एक निश्चित भविष्य दृष्टि भी दिखाई देती है।

दिनकर की राष्ट्रीयता किसी भी तरह के अतिरेक पर आधारित नहीं है ,यह सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आदर ,उसके प्रति आस्था पर अवलंबित है। छोटेलाल दीक्षित के शब्दों-

---

[79] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, संस्करण 1954

“ दिनकर आधुनिक युग के राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। वे चार दशक तक राष्ट्रीय काव्य की रचना करते रहे। उनकी राष्ट्रीयता केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति और प्रेरणा तक ही सीमित नहीं है, आदर्शों के प्रति आस्था ,पतितों के प्रति सहानुभूति ,प्रगति की कामना ,सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था उनकी राष्ट्रीय भावना के अभिन्न अंग हैं।”[80]

दिनकर की सांस्कृतिक चेतना पुनरुत्थानवादी नहीं थी, ऐसा उनकी लेखनी से भी स्पष्ट होता है। दिनकर के यहां मनुष्य की एकता सर्वोपरि है, इस एकता की राह में रोड़े अटकाने वालों की वे खिंचाई भी करते हैं और एकता के सूत्र को सुदृढ़ता प्रदान करने वाले व्यक्तित्व की खुले मन से प्रशंसा भी करते हैं। दिनकर ने खुसरो,अकबर की नीतियों की खुलकर सराहना की है, हालांकि दिनकर की कमी भी यहीं दिखलाई पड़ती है कि उन्होंने खुसरो, अकबर के अंतर्विरोधों पर कुछ भी नहीं लिखा है। खुसरो एक ओर तो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे तो दूसरी तरफ खिलजी जैसे क्रूर शासक के दरबार से भी सम्बद्ध थे। विचार मंथन के क्रम में व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों पर बात नहीं करना, दिनकर की इस कृति की कमी है।

लोकतांत्रिक राजनीति में सामूहिकता और जुड़ाव और बिखराव और विभाजन एक साथ होता है, लेकिन बुद्धिजीवियों के बीच एक परिपाटी सी रही है कि विभाजन तथा विभेद पर ज़्यादा ध्यान दिया जाता रहा है तथा जुड़ाव और संघटन वाले पक्षों की उपेक्षा होती रही है। दिनकर की सांस्कृतिक चेतना में ऐसा कोई द्वैध नहीं है, उनकी दृष्टि में इंसान का महत्व है बाक़ी चीज़ें गौण हैं। उनकी इस दृष्टि के निर्माण में टैगोर, गांधी का योगदान है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रभाव दिनकर पर कई जगहों पर दिखाई देता है। संस्कृति के चार अध्याय किताब की शुरुआत में दिनकर ने टैगोर की एक बांग्ला कविता का इस्तेमाल किया है-

“हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्रविड़-चीन

[80] छोटेलाल दीक्षित, दिनकर का रचना संसार, अभिलाषा प्रकाशन, संस्करण 1978, पृष्ठ सं 78

शाक-हूण-दल ,पाठान-मोगल एक देह होलो लीन। ”[81]

(यानी जितनी भी जातियां आयीं, वे सब भारत के महासमुद्र में लीन हो गई)

दिनकर इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए लिखते हैं कि आर्य अनार्य में कोई भेद नहीं है, ये सारे भेद नृविज्ञान का किया हुआ है। वे उन धार्मिक आंदोलनों की भी आलोचना करते हैं, जिससे साम्प्रदायिकता की नींव पड़ी है; हिंदू नवोत्थान और मुस्लिम नवोत्थान पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं-“खोज करने पर यह बात आसानी से जानी जा सकती है कि जिस प्रकार, मुस्लिम राष्ट्रीयता(साम्प्रदायिकता का एक पक्ष) की धारा मुस्लिम नवोत्थान से फूटी है, उसी प्रकार हिन्दू राष्ट्रीयता(साम्प्रदायिकता का दूसरा पक्ष) की धारा हिन्दू नवोत्थान से निःसृत हुई जिसके आरंभिक रूप स्वामी विवेकानंद के धार्मिक आन्दोलन तथा बंकिम बाबू एवं और डी. एल.राय के उपन्यासों और नाटकों में मौजूद थे।’’[82]

कुछ ऐसी ही बात महात्मा गांधी भी 1939 में कह रहे थे“-उन्नीसवीं सदी के नवजागरण ने जनजीवन के भेदों को दूर करने की बजाय उन्हें बढ़ावा दिया। लोगों में मौजूद एकता को इसने कमज़ोर किया। भारतीय होने की बजाय हिंदू और अधिक हिन्दू, मुसलमान और अधिक मुसलमान.”

ऊपर उद्धृत टिप्पणियाँ दो विद्वानों की सम्यक् दृष्टि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये विचार बहुत हद तक दोनों विद्वानों की भारतीयता सम्बन्धी अवधारणा के परिचायक हैं। यहाँ भारतीयता के प्रश्न पर दोनों विद्वानों के विचारों में साम्यता झलक रही है। भारतीय होने के लिए हिन्दू-मुस्लिम कोई शर्त नहीं है, ना यह कभी रहा है, दिनकर की दृष्टि परम्परा को अपहृत होने से बचाने की कोशिश करती

---

[81] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 1966, भूमिका के पूर्व

[82] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 2009 पृष्ठ सं 709

है, परंपरा के संकुचन के बजाय उसके विस्तार में दिनकर की आस्था है। जैसा कि उन्होंने बुद्ध, खुसरो, कबीर, तुलसी, रवींद्रनाथ टैगोर, गांधी के विचारों को आत्मसात करते हुए किया है। इन्हीं विचारकों की दृष्टि का निचोड़ उनकी सांस्कृतिक चेतना के मूल में है।

संस्कृति के प्रश्नों से जी चुराने की एक परंपरा सी विद्वानों के बीच रही है, उन प्रश्न से ख़ास तौर पर जहाँ हिन्दू-मुस्लिम की उपस्थिति हो, ऐसी स्थिति जब चिंतन और राजनीति के स्तर पर उत्पन्न होती है तो वही प्रश्न प्रेत बनकर समाज के चित्त में गहरे बैठ जाते हैं और सामाजिक व्यवहार सन्निपात के लक्षण दिखाने लगता है। इन प्रश्नों पर विचार के लिए यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि किसी भी तरह की मनोगत समस्या(विचारधारात्मक आग्रह) से मुक्त होते हुए निरपेक्ष मूल्यांकन किया जाए, जिसे एडवर्ड सईद सेक्युलर आलोचना का नाम देते हैं। दिनकर की विवेचन दृष्टि किसी भी तरह के दुराग्रह से मुक्त है ;संभवतः कवि हृदय उन्हें किसी भी तरह के विचारधारात्मक आग्रह से रोकता रहा हो।

यह बात सही है कि भारतीयता की अस्मिता औपनिवेशिक स्थिति के दबाव में गढ़ी गई है, यह बात किसी भी देश के लिए उतनी ही सही है जितनी भारत के लिए। इस भारतीयता के आधार के लिए जिस सांस्कृतिक आधार की आवश्यकता होती है वह अतीत में हमारे यहाँ मौजूद रही है, लेकिन उस अतीत को ही पूर्वजों के पतन का रूपक मान लेना ज्ञान की औपनिवेशिक धारा के पक्ष में खड़ा होना है, इसका दूरगामी परिणाम यह हुआ कि भारत के आधुनिक बुद्धिजीवी की चेतना में एक दरार पैदा हो गई। परंपरा से जीवंत सम्बन्ध के टूटने की चिंताजनक परिणितियों को हमारे मनीषियों ने महसूस किया था, जिनमें शामिल हैं-टैगोर, गांधी, हजारी प्रसाद द्विवेदी। रवींद्रनाथ टैगोर ने तो इस व्यथा को मार्मिक बिंब में व्यक्त किया है “ उस काल के विचार श्रोत, भाव श्रोत और प्राण श्रोत की आदि गंगा सूख गई है।बस, उस नदी की तलहटी में जहाँतहाँ पानी -

रुक गया है।वह किसी बहती हुई आदिम धारा से परिपुष्ट नहीं। उसका कितना पानी पुराना और कितना पानी आधुनिक लोकाचार की दृष्टि से संचित है ,कहना कठिन है।"[83]

रवींद्रनाथ टैगोर की यह टिप्पणी अपने आप में भारतीय चिंतन की वर्तमान धारा के ऊपर टिप्पणी है और चिंतन के फाँक को भी दर्शाती है। दिनकर यही बात रश्मिरथी की भूमिका में लिख रहे थे। ऐसे समय में चिंतन को परंपरा से जोड़ना हिंदी जाति के लिए भी एक उपलब्धि है। ध्यातव्य है कि रवीन्द्रनाथ का प्रभाव जिन जिन लेखकों पर रहा है, उनमें शामिल हैं- हजारी प्रसाद द्विवेदी,दिनकर आदि। इन लेखकों के यहाँ एक सामान्य बात यह भी देखने को मिलता है कि, इन्होंने अपने लेखन को परंपरा से जोड़ा है। पश्चिम के विचारों के प्रति विवेचनात्मक रूख अपनाया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी और दिनकर दोनों धर्म और विज्ञान को एक सूत्र में पिरोना चाहते थे। दिनकर लिखते हैं " एक हाथ में धर्म का कमल और दूसरे में विज्ञान की मशाल, यही वह कल्पना है जिसे चरितार्थ करके भारत अपने ध्येय में सफल हो सकता"[84]

दिनकर जिस युग में लिख रहे थे, वह युग अस्मिता के निर्माण का भी युग था। सांस्कृतिक विरासत पर नए सिरे से विचार की जरूरत थी। हमारे यहाँ कालिदास, अश्वघोष, बुद्ध, सरहपा, कबीर, मीरा, तुलसी की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। औपनिवेशिक स्थितियाँ सबसे पहले परंपरा को ही मिटाने की कोशिश करती है ताकि अतीत को मिटाया जा सके। उसको विस्मृति से बचाने का काम करते हैं ,लेखक-, इतिहासकार आदि। यह काम रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जहाँ अपने स्तर पर किया, वहीं दिनकर ने अपने स्तर पर। दोनों लेखकों के यहाँ विभिन्न अस्मिताओं की परंपरा का सम्मान है। इस संस्कृति को बिखरते देख, दिनकर इतिहास के मूल्यांकन की ओर लौटते हैं, इतिहास के उन बिंदुओं पर रुकते हैं जहाँ से इस सामासिक संस्कृति की धारा फूटती है।

---

[83] पुरूषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2008, पृष्ठ सं 41

[84] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संकरण 1966, पृष्ठ सं- 731

भारतीय साहित्य में उनकी ख्याति का आधार उनका कवि रूप है, परंतु वे इतिहासकार भी अव्वल दर्जे के हैं ;इतिहास और कविता को पास लाने का भी कार्य उन्होंने इस कृति के माध्यम से किया है। इस पुस्तक में टिप्पणी के रूप में मौजूद कविताएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं। कविता को भाव प्रधान विधा माना जाता है और गद्य को विचार प्रधान ;इस कृति में दोनों का सामंजस्य है। उनके रचना संसार में आपको मिथक भी मिलेंगे और सत्य के प्रति आस्था भी। दिनकर जीवन भर साहित्य में सुविधाजनक तटस्थता का विरोध करते रहे, लेकिन खुद दिनकर की स्थिति हिंदी साहित्येतिहास में करीब करीब हाशिए पर खड़े कवि की है।

उनकी सांस्कृतिक चेतना पर नेहरू का भी प्रभाव है, यहां तक कि विचारों में भी साम्य दिखता है । जैसे इस्लामी अत्याचारों के संदर्भ में दिनकर की टिप्पणी –" जिस मुसलमान के कारण इस्लाम भारत में बदनाम हुआ, वह ईरानी कम, तुर्क या हूण अधिक था और अरबी तथा ईरानी संस्कृति की उदारता उसमें नहीं थी।"[85] दिनकर के ये विचार डिस्कवरी ऑफ इंडिया में नेहरु की हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों को लेकर अपनाई गई दृष्टि से मेल खाती है। इसमें नेहरु ने 'इस्लामी हमला' पद को गलत बताते हुए लिखा है कि वास्तव में भारत पर अफ़ग़ानों का, तुर्कों का, मंगोलों का हमला हुआ। दिनकर ने सामाजिक सौहार्द को अपनी सांस्कृतिक चेतना के केंद्र में रखा है। इसी पुस्तक में दिनकर ने अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, जोश मलीहाबादी आदि के लेखन को सामने लाकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह से मुसलमानों के भीतर राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई थी। उन्होंने राष्ट्रीयता के लिए किसी भी तरह की शर्त का खंडन किया है।

नामवर सिंह ने कहा है कि दिनकर अपने युग के सूर्य थे। सचमुच वे सूर्य थे, क्योंकि वे लगभग चालीस साल तक रचनाशील रहे, वो भी बिना किसी आंदोलन से अपने आपको जोड़ते

[85] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 1966, पृष्ठ सं 714

हुए। आधुनिक साहित्य में ऐसा बहुत कम देखने को मिलता है कि रचनाकार विचारधारा से मुक्त हो;परंतु दिनकर थे। 'प्रणभंग से लेकर परशुराम की प्रतीक्षा' तक दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना मौजूद रही है। दिनकर ने अपने समय के दबाव को अपने समकालीन रचनाकारों से कहीं अधिक महसूस किया था; यह भी एक वजह है कि दिनकर इतिहास के क्षेत्र में भी प्रवेश करते हैं। वे अपने समय के बहुत बड़े राजनीतिक कवि भी थे। उन्होंने गांधी पे जितनी कविताएँ लिखी हैं।उन्होंने गांधी पे जितनी कविताएँ लिखी हैं, वह अपने आप में एक संकलन है। दिनकर को गांधी से काफी उम्मीदें थीं, उन्होंने बापू शीर्षक से एक अलग काव्य संकलन ही बापू के लिए लिखा था।

दिनकर के काव्य और गद्य पक्ष को सामने रखने पर एक खास तरह का अंतर्विरोध भी दिखाई पड़ता है। काव्य के क्षेत्र में उनकी चेतना राष्ट्रीयता से युक्त है, वहीं गद्य के क्षेत्र में वे भारत की समृद्ध परंपरा के विस्तारक ज़्यादा नजर आते हैं। व्यवस्थित चिंतन के धरातल पर वे रवींद्रनाथ टैगोर, गांधी की परंपरा के नजदीक खड़े दिखाई देते हैं तो कवि के रूप में वे एक भावुक राष्ट्रप्रेमी रचनाकार नजर आते हैं। अपने कवि कर्म तथा मानवीय कर्म का बोध उनमें किसी भी रचनाकार से अधिक था। शायद इसलिए गांधी, अरविंद, मार्क्स से लेकर छायावाद तथा नई कविता पर उन्होंने ख़ूब लिखा है। भारतीय दृष्टि के नवोन्मेष की चाहत रखने वाले दिनकर ने अपनी सांस्कृतिक चेतना को आयातित विचारधारा से बचाए रखा था।

दिनकर की काव्यकृतियों में भी देश की सांस्कृतिक चेतना की व्यंजना हुई है। उन्होंने पौराणिक आख्यानों और मिथकीय चरित्रों के माध्यम से अपनी जातीय विशेषताओं को विस्तारपूर्वक उद्घाटित करने की चेष्टा की है। रश्मिरथी और कुरुक्षेत्र नामक प्रबंध काव्यों को इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इन प्रबंध कृतियों में अतीत की व्याख्या वर्तमान संदर्भ में की गई है। राष्ट्रीय कविताओं के बीच दिनकर की ये कृतियाँ शाश्वत महत्व की हैं।

डॉ.छोटेलाल दीक्षित लिखते हैं"-दिनकर ने कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी और उर्वशी नामक प्रबंध कृतियों में पुरावृत्तों के माध्यम से सामयिक और शाश्वत समस्याओं की जीवंत व्याख्या की है।स्वर्ग-दहन, परशुराम की प्रतीक्षा, स्वप्न और सत्य, अमृत और मंथन शीर्षक कविताओं में अनेक पुरावृतों, आद्य-बिम्बों के माध्यम से से वर्तमान जीवन मूल्यों तथा नानाविध समस्याओं का विश्लेषण किया गया है।"[86]

दिनकर परंपरा के विश्लेषण में समस्याओं को भी ढूंढ निकाल लेते हैं, फिर बात चाहे हिंदू- मुस्लिम के बीच की समस्या हो या कोई और सामाजिक विभेद। जातीय एकता का प्रश्न उनके लिए महत्वपूर्ण है बाक़ी प्रश्नों से भी ऊपर है जातीय एकता। दिनकर ने अपने काव्य के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की विराट चेष्टा की है। जैसे उनकी कविता की ये पंक्तियाँ देखिए-

खंडित है यह मही शैली, सरिता से, सागर से

पर जब भी दो हाथ निकल मिलते आ दीपांतर से।

तब खाई को पाट शून्य में महामोद मचता है,

दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत रचता है।"[87](नमन करूँ मैं)

जनता को जगाने का काम दिनकर ने हरेक युग में किया है, इस जगाने के क्रम में उन्होंने अभिव्यक्ति के माध्यम को भी बदला है;यह बात संस्कृति के चार अध्याय पर भी लागू होती है। दिनकर राजनीति को करीब से जानने वाले कवि थे;यही वजह है कि वे बहुत हद तक राजनीतिक कवि भी हैं।

---

[86] छोटेलाल दीक्षित, दिनकर का रचना संसार, अभिलाषा प्रकाशन, संस्करण 1978, पृष्ठ सं 64

[87] http://bharatdiscovery.org/india/नमन_करूँ_मैं

दिनकर संस्कृति के प्रश्न पर सबसे ज़्यादा कलम चलाने वाले कवि थे। उदाहरण के लिए उन्होंने हमारी सांस्कृतिक एकता, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, धर्म, नैतिकता और विज्ञान, संस्कृति के चार अध्याय जैसी पुस्तकें उनकी सुदृढ़ सांस्कृतिक चिंतन का ही परिणाम है।

दिनकर भविष्य के प्रति हमेशा आस्थावान रहे हैं। उन्होंने कहीं भी मानवीय मूल्यों को आघात नहीं पहुँचाया। हर समस्या का समाधान वे भारतीय दृष्टिकोण से देते रहे चाहे वह समस्या राष्ट्रीय हो या प्रेम हो। भारतीय संस्कृति के गहन चिंतन का उदात्त स्वरूप हमें दिनकर की रचनाओं में मिलता है। रेणुका में कवि मानव के सांस्कृतिक पतन को देख क्षुब्ध होता है। वह विषमताओं , विद्रूपताओं को देखना नहीं चाहता। आधुनिक सांस्कृतिक जीवन में आयी इन विद्रूपताओं को कवि सर्प के माध्यम से प्रकट करता है।

गूंज रही संस्कृति मंडप में, भीषण मणियों की फूफकारें

गढ़ते ही भाई जाते हैं, भाई के वध हित तलवारें ।"[88]

कवि के लिए यहाँ भी चिंतन का विषय सांस्कृतिक एकता है। अंत तक उनके विमर्श की धुरी भारतीय समाज की बेहतरी रही है। मिथक, लोकाचार, किवंदंतियों का इस्तेमाल दिनकर ने अपनी रचना में ख़ूब किया है। यहाँ तक कि विवाह संस्था, नौकरी व्यवसाय का भी जिक्र उनकी कविताओं में है। इससे सम्बन्धित कुछ कविताएँ द्रष्टव्य हैं -

"यह तो निहत शरत पर चढ़ आखेटक पद पाना है" [89]

इस तरह की अनेक अभिव्यक्तियाँ हम उनकी रचनाओं में पाते हैं। देश-प्रेम, भाईचारा, भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था, आशा और उल्लास ये विशेषताएं उनकी होती हैं जो नया समाज रचने का संकल्प लेते हैं;निस्सन्देह दिनकर नए समाज की बुनियाद रखना चाहते हैं, जो सभी प्रकार की

[88] रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका(कस्मै देवाय), श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, संस्करण 1954
[89] रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, संस्करण 1952, चतुर्थ सर्ग

संकीर्णताओं से ऊपर हो तथा जहाँ मनुष्य मात्र के प्रति विश्वास हो, सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति सम्मान हो, परंपरा से जुड़ाव हो।

उपसंहार

संकट के दौर में मनुष्य विवेक से कम, भावना से अधिक सोचता है और यदि उस भावना में विवेक हो तो इतिहास की प्रामाणिकता बरकरार रहती है। दिनकर जिस दौर के हैं वह दौर संकट भरा दौर है संस्कृति को अपने हिसाब से रूप देने का दौर है, भारत ऐसा देश है जहाँ अम्बेडकर और गांधी एक साथ हुए हैं, दोनों अपनी जिम्मेदारियों में सफल, उत्कृष्ट व्यक्तित्व के धनी। पर विचारकों की रुचि उनके आपसी मतभेदों में ज्यादा एवं समाज के लिए किये गए सामूहिक प्रयासों में कम रही है.;गांधी जी की छवि को फिर से गढ़ा जा रहा है, शायद हम सबके संज्ञान में उन बातों के लिए जगह नहीं है जो विराट पुरुष की छवि को धूमिल करे, पर अफ्रीकी देशों में गांधी को फिर से नई पीढ़ी के विश्वविद्यालयी छात्रों द्वारा मूल्यांकित किया जा रहा है, हर नई पीढ़ी इतिहास में अपनी जगह ढूँढने का प्रयास करती है, अपनी भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास करती है। ऐसा ही एक आन्दोलन "गांधी मस्ट फॉल डाउन" नारे से चला। दिनकर संस्थागत तौर पर संस्कृति के संरक्षक या उद्गाता नहीं हैं, उनका उद्देश्य परंपरा को गलत हाथों में जाने से बचाना है। इतिहास में कई ऐसे प्रसंग हैं जब संस्कृति का दुरुपयोग किया गया है। सत्ता केवल संस्थाओं तक ही सीमित नहीं है, मानसिक संरचना भी सत्ता का हिस्सा होती है, उसकी पड़ताल भी दिनकर ने बखूबी की है। दिनकर ने भारतीय संस्कृति में मौजूद सामासिकता जैसी अवधारणा पर काफी विचार किया है और इस विचार प्रक्रिया में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि हमारी सामासिकता चार बड़ी क्रांतियों के बाद भी यथावत रही है। प्रतिरोध की सांस्कृतिक परंपरा की तरफ भी दिनकर ने ध्यान दिलाने का प्रयास किया है, जिसका इस्तेमाल गांधी ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अत्याचारों का विरोध करने के क्रम में किया था।

सांस्कृतिक उपादानों का ऐतिहासिक विवेचन और उसके बनने की प्रक्रिया का इतने वृहद् पैमाने पर चर्चा करना आम बात नहीं होती। दिनकर ने ऐसा किया है यह प्रयास अपने आप में

सराहनीय है। सांस्कृतिक पहलू इतिहास से तकरीबन उपेक्षित ही रहे हैं,गंगा-जमुनी संस्कृति इत्यादि शब्दों से हम भारतीय संस्कृति को संज्ञापित करते रहे हैं परन्तु उनका विवेचन काफी कम देखने को मिलता है, यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति के प्रश्नों से मुंह चुराकर ही उसकी उत्सवधर्मिता को बचाये रखने का प्रयास किया है। उपभोक्तावादी और तीव्र गति से हो रहे विमुद्रीकरण (केवल मुद्रा के संदर्भ में ही नहीं अपितु ज्ञान,गैजेट, सामाजिक मूल्य इत्यादि)के दौर में संस्कृति का क्षेत्र भी सुरक्षित नहीं है। संस्कृति का इस्तेमाल चेतना तथा सोच की एकरूपता के लिए भी हो रहा है;संस्कृति का समाज पर विधायी प्रभाव होता है, दिनकर ने संस्कृति की निर्णयकारी भूमिका पर व्यापक चर्चा की है। आज जहाँ विज्ञापन, मीडिया, सिनेमा के माध्यम से हमें एक नई पहचान प्रदान करने की कोशिश की जा रही है और हम उस पहचान को प्रसन्नतापूर्वक अपना भी रहे हैं अतः यह और भी आवश्यक है कि हम अपनी संस्कृति को जानें उसके उपादानों को समझें।

दिनकर ने भारतीय संस्कृति को एक प्रक्रिया के रूप में समझने पर जोर दिया है, इस प्रक्रिया को हम संस्कृति का विकासवाद मान सकते हैं, यह विकासवाद आम लोगों की दैनिक अंतःक्रियाओं व संपूर्ण जीवन पद्धति के अंतर्गत विकसित मूल्यों के आधार पर निर्मित हुई है। परंपरा की अविच्छिन्नता के प्रति दिनकर के यहाँ अपार श्रध्दा है, सांस्कृतिक विमर्श की चिंतन धारा में देशगत वैभिन्न्य भी देखने को मिलता है, पश्चिम की जो सांस्कृतिक विमर्श की धारा है वहां अर्थोत्पादन की प्रक्रिया पर ज्यादा बल दिया जाता है, वहीं दक्षिण एशियाई सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में उत्तर उपनिवेशवाद सम्बन्धी चिंतन तथा हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की पुनर्पड़ताल की केन्द्रीयता है। आमतौर पर इन प्रश्नों पर पुनर्विचार करने वालों में साहित्य के बाहर के लोग भी शामिल रहे हैं, वहीं पश्चिम में इन प्रश्नों पर पुनर्विचार करने वालों में साहित्यिक आलोचक ने इसकी चिन्तना को आगे बढ़ाने का काम किया है। भारतीय संदर्भ में साहित्यिक चौहद्दी के भीतर रहते हुए इन मुद्दों पर विचार करने वालों में दिनकर ,निर्मल वर्मा, अज्ञेय शामिल रहे हैं। निर्मल वर्मा

और दिनकर की सांस्कृतिक दृष्टि में काफी अंतर है, निर्मल वर्मा सभ्यता के उतने बड़े ही चिन्तक हैं जितने बड़े दिनकर, परंतु निर्मल वर्मा सभ्यता के प्रति ज्यादा आस्थवादी रुख से विचार करते हैं फलस्वरूप उन्हें भारतीय सभ्यता व परंपरा में कोई खामी दिखाई नही पड़ती। वहीं दिनकर आस्था के साथ आलोचनात्मक प्रक्रिया को जोड़ते हुए सभ्यता और संस्कृति के प्रश्नों पर पुनर्विचार करते हैं और संस्कृति को निर्दोष नहीं ठहराते हैं। व्यवस्था में एक प्रकार का स्थायित्व विकास के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अपरिहार्य होता है, इस अभाव के बिना सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है, भारतीय संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध हमेशा से सामाजिक अस्थिरता के कारण रहे हैं, इन परिस्थितियों से बाहर आने में राजनीति हमारी कोई मदद नहीं कर सकता है, ऐसा संस्कृति के प्रश्नों पर पुनर्विचार, अतीत की पुनर्व्याख्या और साहित्यिक गतिशीलता की वजह से ही संभव हो सकता है। इस लिहाज़ से भी दिनकर की इस कृति को देखने की आवश्यकता है। दिनकर ने उन आधारभूत मूल्यों को को खोजने का प्रयास किया है, जिनसे यह निर्णय लेने में आसानी हो कि वांछित दिशाएं कौन सी हैं; अभिमूल्यों का उच्चावच क्रम कैसे निर्धारित हो, इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए दिनकर संस्कृति का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। दिनकर के यहाँ संस्कृति के प्रश्न पर जो आस्था दिखलाई पड़ती है, वह एक किस्म की उदात्तता से भी अभिप्रेरित है, दिनकर अपने स्थापनाओं को लेकर भी काफी सहज दिखालाई पड़ते हैं, अपनी कमी को वे भूमिका में स्वीकारते हुए लिखते हैं कि मेरी कई स्थापनाएं गलत भी हो सकती हैं।

हम यह जानते है कि संस्कृति का प्रश्न मुख्यतः एक मध्यवर्गीय प्रश्न है, मध्यवर्ग को हम केवल एक आर्थिक सामाजिक इकाई नहीं मान सकते हैं, मध्यवर्ग भले ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व से गायब है;परन्तु इस वर्ग ने संस्कृति को अपने ढंग से प्रभावित किया है, दिनकर ने यह कृति भी उसी मध्यवर्ग को ध्यान में रखते हुए लिखी है। दिनकर लिखते हैं कि-मैंने जो इस काम में हाथ डाला वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि इसलिए

कि स्वतंत्रता के बाद से इस देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लागए जा रहे हैं, किन्तु जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का प्रायः अभाव रहा है जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है कैसे कैसे वह बढती आई है और आगे वह कौन सा रूप ले सकती है।

स्वतन्त्रतोपरांत देश कई समस्याओं में उलझा रहा, संस्कृति के प्रश्न विचार के केंद्र से लगभग गायब ही रहे, प्रगति का अर्थ केवल आर्थिक विकास या आर्थिक विकास की एक दिशा मान लिया गया, इसका दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि परंपरा को सहेजने के बजाय उसे आधार बनाकर अलगाववाद का बीज बोया गया। संस्कृति व परंपरा का राजनीतिकरण धड़ल्ले से हुआ, हमारे संस्कार को सींचने वाले चिंतन स्त्रोत;संस्कृति की भूमिका को उपेक्षित रखा गया। दिनकर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारतीय समाज व्यवस्था ने असहमति, विरोध की परंपरा को प्रश्रय देकर अपनी विसंगतियों को दूर करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है तथा इन माध्यमों से भारतीय संस्कृति की निरंतरता बरकरार रही है। आज विश्व में जातीय सर्वश्रेष्ठता के नाम पर खूब खून खराबे हो रहे हैं, जड़ों की खोज एक बुनियादी मुद्दा है, इसके पीछे जातीय स्मृतियों का आग्रह है और नए इतिहासबोध की मांग है। जातीय स्मृति किसी भी समाज के आधारभूत ढाँचे के निर्माण में मददगार साबित होती है, इन स्मृतियों के निर्माण में आत्मछवि और प्रदत्त छवि दोनों का योग होता है, दिनकर इन छवियों की सही सही तस्वीर उकेरने की कोशिश करते हैं और जड़ों की तलाश को दिशा भ्रम से बचाने की कोशिश करते हैं।

आज इतिहास दृष्टि के निर्माण में किताबों से ज्यादा मीडिया, सिनेमा, धार्मिक संस्थाओं की भूमिका है और ये माध्यम निर्णयकारी प्रभाव डालने में असरदार हैं। इन माध्यमों की भूमिका को इस बात से समझा जा सकता है कि किसी आंतकवादी घटना के वक़्त अगर कोई अहिंसा की बात कर दे तो ये माध्यम उसकी छवि आतंकवादी समर्थक की बना सकते हैं।1914 से लेकर 1990 के बीच विश्व में कई बड़े नरसंहार हुए हैं, कई विद्वानों ने इसे अतिरेकों का युग माना है,

जिबगनियेव ब्रेंजिसकी ने 1914 से लेकर 1990 के बीच बड़े नरसंहारों का हिसाब लगाया है, उनके मुताबिक़ इनमें 18 करोड़ 70 लाख लोग मारे गए हैं, इन जनसंहारों के मूल में आपसी विद्वेष, एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता तथा संवादहीनता से उपजी स्थितियां हैं।

कोई भी समाज अपनी परंपरा व संस्कृति को पूरी तरह नहीं जीता अपितु उसके तत्वों का इस्तेमाल करता है, उन तत्वों पर विभ्रम का जाल ना फैले इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी व्याख्या की जाती है, दिनकर ने यह काम बखूबी किया है। आज राष्ट्रीयता पर खूब बहस चल रही है, वामपंथी खेमे में इस मुद्दे को लेकर उदासीनता देखने को मिलती है, राष्ट्रवाद जैसे प्रश्नों को आप बेजा प्रश्न नहीं मान सकते हैं खासकर इस पीढ़ी के सामने तो ये प्रश्न बहुत मायने रखते हैं। दिनकर राष्ट्रीयता के प्रश्न को भावना का प्रश्न मानते हैं और उनके वहां वह टिकाऊ इसलिए भी है कि क्योंकि वह ज्ञान को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करते हैं, दिनकर राष्ट्रीयता की उत्पत्ति को भारत की सांस्कृतिक कुक्षि से जोड़ते हैं। दिनकर काव्य के क्षेत्र में तो शुद्ध कविता की खोज पर निकलते हैं परन्तु संस्कृति के प्रश्न पर वे सामासिक संस्कृति की राह पर चलते हैं। दिनकर के सांस्कृतिक विमर्श की केंद्रीय विशेषता भारतीय संस्कृति के उदारवादी सामंजस्यवादी अर्थ के विस्तार में है। इस देश में संस्कृति को संस्कार देने वाली कई परम्पराएं रही हैं जिसका नेतृत्व महात्मा बुद्ध से लेकर गांधी तक ने किया है। लेकिन इन संस्कारों का प्रबंधात्मक विवरण जनता के सामने प्रस्तुत करने वाला कोई नहीं रहा है, दिनकर ने यह कार्य किया है और हिंदी की चौहद्दी को विस्तारित भी किया है।

दिनकर का मानना है कि वर्तमान भारत का जन्म अंग्रेज़ों के आने के बाद होता है, वे लिखते हैं कि – जब अंग्रेज़ भारत में आये, भारत का बहुत बुरा हाल था, भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे, वे बाहर का तो क्या अपने देश का भूगोल भी ठीक से नहीं जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था, इस काल में आकर और भी बढ़

गया था, समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्त्तव्य है, इस बात को लोग बिलकुल भूल चुके थे। जोइतिहास रहा है वह विकसित देशों के मॉडल के अनुकरण का रहा है 20वीं शताब्दी का, यह मॉडल आर्थिक विकास की दृष्टि से प्रेरित था, इस महत्वाकांक्षा को बढ़ावा दिया, यूरोप के आर्थिक विशेषज्ञों ने सुझाव दिया कि परंपरा और संस्कृति विकास के मार्ग में अवरोधक हैं इसलिए उसे बदलना आवश्यक समझा गया। सांस्थानिक ढांचे और जीवन मूल्यों दोनों में परिवर्तन करने की आवश्यकता को अनिवार्य बताया गया, इसने भयानक विषमता को बढ़ावा दिया इस विषमता का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव गाँवों पर पड़ा, इस प्रक्रिया ने पारंपरिक संस्कृति को धक्का पहुँचाया और एक नये संस्कृति की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया – आज जिसे हम टेक्नोकल्चर, दावोसकल्चर नाम से जानते हैं वह इसी धुरीहीनता से पैदा हुई संस्कृति है। मानवेतर संस्कृति ने इस प्रक्रिया को स्वीकृति प्रदान करने का प्रयास किया, मानवेतर संस्कृति से मेरा आशय मीडिया, सिनेमा, इन्टरनेट से है;पियरे बोर्दिए ने इसे कल्चरल इन्टरमीडिअरीज़ कहा है।

पश्चिमी सांस्कृतिक विमर्श और भारतीय सांस्कृतिक विमर्श में पर्याप्त अंतर है, कनाडा में सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में राष्ट्रवाद, बहुसांस्कृतिकता, प्रौद्योगिकी तथा मीडिया का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव इत्यादि प्रश्न केंद्र में हैं वहीं फ्रांस में इसके केंद्र में अमेरिकी संस्कृति तथा उपभोक्तावादी संस्कृति का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रश्न इसके चिन्तन में शामिल हैं;वहीं अमेरिका में इसके केंद्र में लोकप्रिय संस्कृति तथा श्रोता एवं दर्शकों के साथ उसके अंतर्संबंधों के प्रश्न शामिल हैं। भारतीय संदर्भ में अगर देखें तो हम पाते हैं कि उत्तर उपनिवेशवाद की शुरुआत के बाद धर्मनिरपेक्षता, मध्यवर्ग की भूमिका और सबसे महत्वपूर्ण हिन्दू मुस्लिम संबंधों की पुनर्पड़ताल को इसमें शामिल किया जाता है।1950 के बाद विश्व पटल पर मध्यवर्ग का उभार होता है और वो अपनी भूमिका को इतिहास में ढूँढनें का प्रयास करते हैं इसी क्रम में वे अपनी भूमिका को इतिहास में नगण्य पाते हैं, इसी वर्ग के कुछ चिन्तक जिनमें सर्वोपरि हैं रेमंड विलियम्स, संस्कृति के प्रश्नों पर पुनर्विचार आरम्भ करते हैं और इसी क्रम में इसको वैधता मिलती

है और 1964 में बर्मिंघम सेंटर फॉर कंटेम्परारी कल्चरल स्टडीज की स्थापना की जाती है इस संस्थान ने संस्कृति के प्रश्नों को खासकर मध्यवर्ग की भूमिका को इतिहास में खोजने के प्रयास के क्रम में पाया कि संस्कृति हमे परंपरा से प्राप्त नहीं होती अपितु इसका उत्पादन होता है, संस्कृत अर्थोत्पादन और विचारों की एक प्रक्रिया का परिणाम है ना कि परंपरा से प्राप्त मूल्य। इस पूरी प्रक्रिया पर सत्ता का नियंत्रण होता है और उच्च वर्ग अर्थ की पूरी प्रक्रिया को प्रभावित करता है;यह भी कहा गया कि संस्कृति के सभी रूपों का सीधा सम्बन्ध संस्था, बाजार, तथा नियामक निकायों से है।

विमर्श की इस धारा के अंतर्गत किसी भी सांस्कृतिक प्रतीक की पूरी प्रक्रिया तथा उसकी वैधता का आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है, सांस्कृतिक विमर्श के अंतर्गत सर्किट ऑफ़ कल्चर की महत्वपूर्ण भूमिका है;इसके अंगों में निरूपण, अस्मिता, उत्पादन, उपभोक्ता, तथा नियमन शामिल हैं। सांस्कृतिक विमर्श का ध्येय आधिपत्य की संरचना को समझना तथा उसमें बदलाव लाने की कोशिश करना है, 20वीं शताब्दी के छठवें दशक में काफी संख्या में आलाचकों के एक वर्ग ने खासकर रिचर्ड होगार्ट, विलियम्स ने संस्कृति के राजनैतिक तथा सैद्धांतिक महत्व को सामाजिक जीवन से संपृक्त करते हुए पाया कि सांस्कृतिक पाठ हमें सामाजिक अंतर्दृष्टि प्रदान करती है जो पारंपरिक सामाजिक विज्ञान से गायब था, विलियम्स इसे स्ट्रक्चर ऑफ़ फीलिंग्स कहते हैं। रेमंड विलियम्स का समय नई समीक्षा से हटकर नैतिकतावादी आलोचना की ओर मुड़ने का भी समय है जिसके प्रवर्तन का श्रेय एफ. आर. लीविस को जाता है, इसके अतिरिक्त उन पर मार्क्स का भी गहरा प्रभाव रहा है। विलियम्स के प्रसिद्ध कथन culture is ordinaryने संस्कृति सम्बन्धी समूचे चिंतन प्रणाली को प्रभावित किया है। जहां टी. एस. इलियट संस्कृति के सबंध में ऊंच नीच का भेद प्रस्तुत करते हैं वहीं विलियम्स संस्कृति की लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर जोर देते हैं, इलियट लिखते हैं कि – (https://www.culturematters.org.uk/index.php/culture/theory/item/2310-

culture-is-ordinary-the-politics-and-letters-of-raymond-williams, 2016) a kind of secular priesthood was needed to protect and promote culture, ultimately only a kind of cultural elite can preserve and maintain the culture necessary for a civilized society to exist.[90] संस्कृति के संवर्धन और संरक्षण के लिए एक धर्म निरपेक्ष पुरोहित की आवश्यकता पड़ती है तथा सांस्कृतिक रूप से समृद्ध उच्च वर्ग ही उस संस्कृति का संरक्षण कर सकती है, जो किसी सभ्य समाज की धारणीयता के लिए आवश्यक है। सांस्कृतिक विमर्श विभिन्न सिद्धांतों से अंतर्दृष्टि प्राप्त करती है जिससे विमर्श की व्यापकता का पता चलता है,जैसे –संरक्षणवाद, उत्तर संरचनावाद, उत्तरआधुनिकता, नारीवाद, सांस्कृतिक भौतिकवाद, आधिपत्य की अवधारणा तथा मिशेल फूको एवं उनकी अवधारणा सत्ता तथा ज्ञान।

मानवीय इतिहास ही सभ्यता का इतिहास है परन्तु पारंपरिक इतिहास लेखन केवल राजनीतिक घटनाक्रम एवं उसके ब्योरों तक ही सीमित रहा है, सभ्यता के प्रश्नों से अलग करके हम किसी देश के इतिहास को नहीं देख सकते हैं, विश्व में कुछेक देश ने ऐसा करने का प्रयास ज़रूर किया है जैसे जर्मनी ने। सभ्यता को परिभाषित करने के क्रम में जो तत्त्व सबसे ऊपर आता है वह है धर्म। विश्व की कई सभ्यताएं अपने को धर्म के साथ जोड़ती आई हैं, कई चिंतकों ने भारतीय सभ्यता को भी हिन्दू धर्म के साथ ही जोड़ कर देखा है, परन्तु यह धारणा जल्द ही खंडित हो गई और चिंतन पुनः गंगा-जमुनी तहजीब पर केन्द्रित हो गई। हिन्दू संस्कृति में धर्म और राजनीति को अलग अलग रखा गया है, इस्लाम में तो अल्लाह को ही राजा माना जाता है, चीन और जापान में राजा भगवान की कोटि में परिगणित होता है। दिनकर ने यह रेखांकित करने का प्रयास किया है कि विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है, इस एकता का विचार उन्हें राष्ट्रीयता में दिखलाई पड़ती है और इस एकता के जो आधार रहे हैं वह भारतीय दर्शन, साहित्य और मिथकों में मौजूद रहे हैं, इसलिए दिनकर ने उन मिथकों का भी इस्तेमाल किया है जिनसे हमारी एकता पुष्ट

[90] https://www.culturematters.org.uk/index.php/culture/theory/item/2310-culture-is-ordinary-the-politics-and-letters-of-raymond-williams

होती हो। दिनकर हमें आगाह करते हैं कि चिंतन और राजनीति जब संस्कृति के प्रश्नों से मुंह चुराने लगती है तो वे प्रश्न प्रेत बनकर समाज के चित्त में बैठ जाते हैं और सामाजिक व्यवहार सन्निपात के लक्षण दिखाने लगता है।

वर्तमान सामाजिक विक्षोभ, हिंसा, अलगाव और वैमनस्य का वातावरण सिर्फ राज्य तंत्र की विफलता तथा राजनीतिक दलों की असफलता भर को ही सूचित नही करता अपितु इसका सम्बन्ध पिछली शताब्दी में अर्जित औपनिवेशिक मूल्यबोध की सीमाओं और समस्याओं से भी है। इस उपनिवेशवाद ने तत्कालीन राज्य तंत्र को केवल और केवल सामान्य जनता के बीच वैध बनाने का काम किया है। दिनकर की पूरी की पूरी कोशिश परंपरा को अपहृत होने से बचाने की है, दिनकर आस्थवादी लेखक रहे हैं इसलिए भी दिनकर के लिए यह चिंता का विषय था कि भारतीय समाज अपने अंश के साथ किस तरह का व्यवहार करता है क्या यह परंपरा सम्मत है या परंपरा के प्रतिकूल। आज हमारी समझ के बीच मीडिया, सोशल साईट तथा सिनेमा खड़ा है इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि संस्कृति के सही स्वरुप की समझ लोगों के बीच पहुंचे, उसके प्रतिमान का निर्धारण हो, संस्कृति को बाजारवाद के भरोसे नही छोड़ा जा सकता है अगर ऐसा होता है तो संस्कृति केवल उत्पाद बनकर रह जाएगी और हम संस्कृति के उपभोक्ता।

आज के दौर में विचारधारा का महत्व नहीं है, उसका स्थान सत्ता ने ले लिया है वैसे तो विचारधारा का ध्येय ही सत्ता पाना रहा है परन्तु सत्ता ने विचारधारा को बेदखल कर दिया है, विचारधारा का अंत तो सोवियत संघ के विघटन के उपरान्त ही हो गया था, आज लड़ाई सभ्यता और संस्कृति के उपकरणों से लड़ी जा रही है। सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में आप जितने मजबूत होंगे आपकी वैश्विक भूमिक भी उतनी ही मजबूत होगी,1992 के बाद से विश्व में सब कुछ बदला है, 10 दिसम्बर 1992 को सोवियत संघ का विघटन हुआ था, इसके साथ ही लेनिन की मूर्ति को तोड़कर हटा दिया गया और उस स्थल पर रशियन संघ का झंडा फहराया गया, ऐसा केवल लेनिन

से घृणा या उसके प्रति पूर्वाग्रह की वजह से नहीं किया गया था अपितु इसके पीछे उन सांस्कृतिक तत्वों की अभिव्यक्ति को लम्बे समय तक रोके जाने की वजह से उपजी स्थितियां थी। मूर्तियाँ अमूर्त नहीं होती हैं, वह भविष्य से संवाद भी स्थापित करती है और यह सन्देश देती है कि -This is what I want you to remember about my generation."

उत्तर शीत युद्ध के बाद सांस्कृतिक प्रतीकों का महत्व और भी बढ़ा है। 1992 के बाद की वैश्विक राजनीति भी बदली है, वैश्विक राजनीति एक साथ बहुध्रुवीय भी है और बहुसभ्यतायुक्त भी, अब हमें विचारधारा किसी देश से अलग नहीं करती है अपितु जो चीज़ हमें अलग करती है वह है- सांस्कृतिक तत्त्व, देश की राजनीति जहाँ आज जाति की राजनीति की ओर बढ़ रही है वहीं वैश्विक राजनीति सभ्यताओं की राजनीति की ओर बढ़ रही है।

अनेक संस्कृतियों का सहअस्तित्व और बहुसांस्कृतिकता भारतीय परिदृश्य की विशिष्ट पहचान है, इस पहचान को बनाये रखते हुए दिनकर संस्कृति के विविध रूपों को अलग अलग खानों में बांटने की जगह उन्हें जोड़ने, उनकी एकता के अंतःसूत्र तलाशने और उनके बुद्धिवादीकरण के प्रति सचेत दिखाई देते हैं। दिनकर का युग सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तनों का युग है। इस दौर के रचनाकारों के साहित्य और राजनीति के साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार भी बड़े स्पष्ट थे। सभी मिलकर सामाजिक विषमताओं और धार्मिक रुढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उदारवादी और समतामूलक समाज तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता का पक्ष मजबूत करना चाहते थे। वे सामाजिक और सांस्कृतिक आधुनिकता लाना चाहते थे। दिनकर इस युग के इन सरोकारों से पूरी गंभीरता से जुड़ते हैं और अपने वैचारिक सांस्कृतिक लेखन के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति में सफल भी होते हैं। उनके वैचारिक सांस्कृतिक लेखन का धरातल विकसित राष्ट्रीय और मानवीय चेतना है। उन्होंने संस्कृति के

अध्ययन के माध्यम से ना केवल पूरे देश की एकता प्रतिपादित करने का, बल्कि उसके प्रसुप्त आत्मविश्वास और स्वाधीन चिंतन को जागृत करने का उल्लेखनीय कार्य किया है।

दिनकर हमारी विरासत व परंपरा को विस्मृति के दंश से बचाने का प्रयास करते हैं, आज पूंजीवाद ने तीसरी दुनिया को सांस्कृतिक रूप से कंगाल बनाने का कार्य किया है, मीडिया प्रतिष्ठानों ने अप्रत्यक्ष रूप से युवाओं को अपने विचारों के प्रसार का माध्यम बनाया है, इसमें उसका साथ सिनेमा भी दे रहा है। विकासशील देशों में परंपरा की एक प्रगतिशील भूमिका होती है, इसलिए भी परंपरा के प्रश्नों पर पुनर्विचार आवश्यक है खासकर दक्षिण एशियाई संदर्भ में। 1980 के बाद इस देश ने दोबारा से नई करवट लेनी शुरू की, धर्मनिरपेक्षता, परंपरा, विकास और आधुनिकता के मुद्दों पर दोबारा से बहस की शुरुआत हुई;नेहरुयुगीन रोमानियत अब निस्तेज हो चली थी, राज्य प्रायोजित विकास की नीतियों ने वर्ग की भूमिका को नज़रअंदाज करने का प्रयास किया था, पूंजीवाद और संस्कृति के गठजोड़ से अस्मिता पर आधारित राजनीति का उभार हो रहा था, लेकिन दिनकर इन प्रश्नों पर में ही विचार कर रहे थे 1956, आज जब संस्कृति, परंपरा का दुरुपयोग हो रहा है तो ऐसे वक़्त में दिनकर की इस कृति का महत्व और भी बढ़ जाता है। आधुनिकीकरण तथा विकास की इस अंधी दौर में परंपरा व संस्कृति के प्रश्नों से मुंह नहीं चुराया जा सकता, अगर इसी तरह इन प्रश्नों से हम मुंह मोड़ते रहे तो हमारे सामाजिक जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता,आर्थिक विषमता तथा अन्य विभेदकारी शक्तियों का प्रभाव बढ़ेगा और इससे जो बोध निर्मित होगा वह देश को पतन के मार्ग पर ले जाने वाला होगा।

दिनकर की यह कृति कई मायनों में महत्वपूर्ण है, संस्कृति के प्रश्नों से जी चुराने की परंपरा विद्वानों के बीच मौजूद रही है,उन प्रश्नों से ख़ास तौर पर जहाँ हिन्दू-मुस्लिम की उपस्थिति हो, ऐसी स्थिति जब चिंतन और राजनीति के स्तर पर उत्पन्न होती है तो वही प्रश्न प्रेत बनकर समाज के चित्त में गहरे बैठ जाते हैं और सामाजिक व्यवहार सन्निपात के लक्षण दिखाने लगता है। दिनकर

इन प्रश्नों से जूझते हैं यह खुद में एक उपलब्धि है, दूसरी महत्वपूर्ण बात दिनकर संस्कृति की इस यात्रा का प्रबंधात्मक ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। दिनकर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित है, दिनकर ने जिस वक्त साहित्यिक जगत में प्रवेश किया वह दौर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर कोलाहल का दौर था। द्वितीय विश्व युद्ध की भूमिका का निर्माण हो रहा था,इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर भयंकर विनाश के साधन जुटा रहा था;दूसरी ओर भारत में स्वाधीनता प्राप्ति के निमित्त अंग्रेजों के विरूद्ध तीव्र गति से असंतोष बढ़ रहा था। इन परिस्थितियों ने दिनकर के रचनाकर्म में प्रेरक का काम किया। दूसरी ओर स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दू मुस्लिम संघर्ष तथा धार्मिक राष्ट्रवाद ने इनको वैचारिक स्तर पर झकझोड़ा जिसकी अभिव्यक्ति संस्कृति के चार अध्याय के रूप में हुई। दिनकर का कृतित्व औपनिवेशिक शासन के सांस्कृतिक प्रभावों से मुक्त करने का उपक्रम है। राष्ट्रीय साहित्य की चर्चा जब जब होगी दिनकर उस साहित्य के प्रतिनिधि लेखक रहेंगे, राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय चरित्र की भी जननी होती है, जैसे हमारे यहाँ राम,अमेरिका में अमेरिकन काऊबॉय आदि। दिनकर राष्ट्रीय चरित्र को गढ़ने वाले रचनाकार हैं, इस चरित्र को संस्कृति के भीतर जाकर गढ़ने का प्रयास यों तो आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृत विद्वानों ने भी किया है परन्तु दिनकर ने जिस व्यापक स्तर पर यह करने का प्रयास किया है वह उक्त लेखकों के यहाँ नहीं मिलता है। पूरे विश्व साहित्य में संभवतः दिनकर ही ऐसे कवि हैं जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में दो स्तरों पर संघर्ष करते हैं एक लेखकीय कर्म के स्तर पर दूसरे लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अंग बनकर।

दिनकर की सांस्कृतिक चेतना की बात करें तो दिनकर ने समूचे भारतीय इतिहास में समावेशीकरण और एकीकरण की लगातार चलने वाली प्रक्रिया पर बल दिया है। दो विश्व युद्ध के उपरांत उपजे वैमनस्य तथा समुदायों के राजनीतिकरण के बाद हम देखते हैं कि 1950 के बाद की लेखनी में किस तरह हार्दिक रिश्तों पर ध्यान देना शुरू किया जाता है और सामाजिक तथा सांस्कृतिक मिलन की प्रक्रिया को उजागर किया जाता है;उसी कड़ी का यह महत्वपूर्ण पड़ाव है –

संस्कृति के चार अध्याय। दिनकर की सांस्कृतिक दृष्टि के मूल में श्रम का मूल्य है, परंपरा की अनवरतता के प्रति विश्वाश व आस्था है। जिस सामान्य संस्कृति की बात रेमंड विलियम्स करते हैं, संस्कृति के उसी स्वरुप की तरफ दिनकर का भी ध्यान है। दरअसल सामाजिक बदलाव केवल बहस और विश्लेषण का ही विषय नहीं होता, भावनाओं की भी उसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है, वो भावना दिनकर के यहाँ मौजूद है। दिनकर की सांस्कृतिक चेतना में वे सभी तत्त्व शामिल हैं, जिन तत्वों का इस्तेमाल उपनिवेशवाद के विरोध में किया गया प्रतिरोध, राष्ट्रवाद, अतीत का अवलोकन, सांस्कृतिक प्रतीकों की पुनर्व्याख्या, दिनकर की रचना में यह सब हमें मिलता है। दिनकर यह मानते हैं कि भारत की एकता किसी एक राजनीतिक प्रणाली के बजाय सांस्कृतिक प्रतीकों और आध्यात्मिक मूल्यों के व्यापक प्रसार पर निर्भर रही है। दिनकर ने जिस दौर में यह पुस्तक लिखी है, वह देश के पुनर्निर्माण का, देश को फिर से भारतीयता के सूत्र में पिरोने का तथा अल्पसंख्यकों को विश्वाश दिलाते हुए उन्हें भारत में सम्मान और आदर देने का दौर था। लोकतांत्रिक राजनीति में सामूहिकता और जुड़ाव और बिखराव और विभाजन एक साथ चलने वाली प्रक्रिया है, लेकिन बुद्धिजीवियों के बीच एक परिपाटी सी रही है कि विभाजन तथा विभेद पर ज्यादा बल देना और जुड़ाव और संघटन वाले पक्षों की उपेक्षा करना। दिनकर की सांस्कृतिक चेतना में इस तरह का कोई द्वैध देखने को नहीं मिलता है, उनकी दृष्टि में मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाले तत्वों का ज्यादा महत्व है, बाकी चीज़ें गौण हैं।

सांस्कृतिक विमर्श और संस्कृति के चार अध्याय की बात करें तो हम देखते हैं कि सांस्कृतिक विमर्श की कई धाराएं हैं। पश्चिमी संदर्भ में इसमें देशगत वैभिन्य देखने को मिलता है, उदाहरण के लिए कनाडा में यह विमर्श राष्ट्रवाद, प्रौद्योगिकी तथा मीडिया का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव पर केन्द्रित है। अमेरिका में इसके केंद्र में लोकप्रिय संस्कृति और श्रोता तथा दर्शकों के साथ उसके सम्बन्ध व अंतर्विरोधों पर आधारित है। भारतीय संदर्भ में अगर सांस्कृतिक विमर्श की बात की जाए तो यह विमर्श संघर्ष के चार बिन्दुओं पर केन्द्रित है-जाति, भाषा, धर्म तथा वर्ग।

दिनकर ने वर्ग की अवधारणा को छोड़कर सारे बिन्दुओं पर विचार किया है। दिनकर मूलतः आस्थावादी लेखक रहे हैं यही वजह है कि उन्होंने संस्कृति के प्रश्नों पर सूक्ष्मग्राही दृष्टि से विचार किया है। दक्षिण एशियाई संदर्भ में सांस्कृतिक विमर्श के मूल में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इस्लाम इन प्रश्नों के केंद्र में रहा है, बात चाहे हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की हो या सिंहली बौद्धों और मुस्लिमों के संघर्ष की हो इस्लाम इसके केंद्र में रहा है। दिनकर इस्लाम की विकास यात्रा और संघर्षों की पीठिका को बखूबी रेखांकित करते हैं और हलाहल और अमृत की धारा तक जा पहुँचते हैं।

संस्कृति का राजनीतिकरण अनेक समस्याओं को जन्म देता है, यह प्रक्रिया हम और वे की दूरी बढ़ाती है। स्वाभाविक सहभागिता में विसंगतियां उत्पन्न होती हैं और अपसंस्कृतियों के उदय के कारण कई सौ वर्षों के पडोसी कुछ वर्षों में ही बेगाने हो जाते हैं। अविवेकी इतिहास दृष्टि, विकृत जातीय भावना, झूठी धर्मान्धता कई हज़ार वर्ष पुराने संतुलन को गड़बड़ा देती है, इसी तरह की अपसंस्कृति का विकास हिन्दुस्तान की संस्कृति के आत्मपहचान को लेकर हुई, फलस्वरूप इसे हिन्दू संस्कृति का पर्याय मान लिया गया। दिनकर इस विभ्रम को तोड़ते हैं और साबित करते हैं कि भारतीय संस्कृति का आधार वेदान्त है;वेदान्त हिन्दू दर्शन का शब्द ज़रूर है, लेकिन वह हिन्दुत्व नहीं है।

संस्कृति के प्रश्नों से जी चुराने की कोशिश एक खतरनाक लक्षण है, जो किसी भी देश की बौद्धिक विपन्नता का भी सूचक है। दिनकर, निर्मल वर्मा तथा अज्ञेय जैसे लेखक इस कमी को भरने का प्रयास करते हैं। आज के दौर में और खासकर समसामयिक संवाद में संस्कृति और परंपरा के प्रश्नों की अवज्ञा संभव नहीं है। इस लिहाज़ से देखा जाए तो दिनकर संस्कृति के प्रश्नों पर विचार करने वाले प्रतिनिधि लेखकों में से हैं। संस्कृति के प्रति दिनकर की जो अवधारणा है वह संस्कृति के प्रगतिशील रूप की रक्षा का है। जीवन के हरेक क्षेत्र में संस्कृति का समावेश है, भारत

का जो रूप है; उसकी अपनी जो पहचान है, उसका जो वेग है उसमें राष्ट्रवाद, धर्म का सहज प्रवेश है, अतः इन मुद्दों पर बार बार विचार होना चाहिए।

परिशिष्ट

आधार ग्रंथ:

1.दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010

दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 2009

दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण1966

संदर्भ ग्रंथ:

हिंदी ग्रंथ

1. अग्रवाल पुरुषोत्तम, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2000
2. अग्रवाल पुरुषोत्तम, संस्कृति:वर्चस्व और प्रतिरोध, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2008
3. तिवारी रामचंद्र, हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण 2016

4. दिनकर रामधारी सिंह, परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 1965
5. दिनकर रामधारी सिंह, रेणुका, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, संस्करण 1954
6. दिनकर रामधारी सिंह, रश्मिरथी, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, संस्करण 1952
7. दिनकर रामधारी सिंह, चक्रवात, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 1956
8. दिनकर रामधारी सिंह, हुंकार, उदयाचल प्रकाशन, संस्करण 1957
9. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2008
10. दुबे श्यामाचरण, परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 1991

11. दीक्षित छोटेलाल, दिनकर का रचना संसार, अभिलाषा प्रकाशन, संस्करण 1978

12. चतुर्वेदी जगदीश प्रसाद, दिनकर:व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 1977

13. मिश्र कृष्णकांत, सासंकृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, (अनुवादित) दिल्ली ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण 2002

14. राय विभूति नारायण, साम्प्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2010

15. सिन्हा सावित्री, दिनकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 1970

अंग्रेजी ग्रंथ :

1. NAYAR PRAMOD, An introduction to cultural studies, Viva books, edition 2009

2. BARKER CHRIS, Cultural studies, sage publications, edition 2008

3. THE WESTERN IMAGE OF ISLAM, (encyclopedia survey of Islam culture), Anmol publications, edition-first, vol. 15

4. HOBSBAWN ERIC, ON history, Abacus publication, reprinted 1999

5. Ray M.N, The historical role of Islam, Voras co.publishers limited, edition 1937

वेब सामग्री :

1. https://www.culturematters.org.uk/index.php/culture/theory/item/2310-culture-is-ordinary-the-politics-and-letters-of-raymond-williams

2. http://kavitakosh.org/kk/परंपरा_/_रामधारी_सिंह_%22दिनकर%22

3. https://bharatdiscovery.org/india/नमन_करूँ_मैं_-रामधारी_सिंह_दिनकर

4. https://poetrylearner.com/poetry/9292/अतीतपर-द्वार-के-

5. http://www.abhivyakti-hindi.org/snibandh/lalit_nibandh/2004/ashok.htm

6.http://jslh.edu.in/despite-supreme-courts-order-transgenders-still-feel-discriminated/

7. https://www.outlookindia.com/magazine/story/christianity-didnt-damage-india-like-islam/208406

8.https://www.bbc.com/hindi/entertainment/story/2008/09/080922_dinkar_centenary.shtml

9.https://www.epw.in/journal/2016/3/perspectives/lastpolymath.html?0=ip_login_no_cache%3D2c7daff19f534d07bd0070f67176d3bb